विषय-सूची

श्रीहरिः

निवेदन

'रामायणमें आदर्श भ्रातृ-प्रेम' नामक यह निबन्ध पुस्तकरूपमें पाठकोंके सामने उपस्थित करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। रामायण केवल इतिहास या काव्य-ग्रन्थ ही नहीं है, वह मानव-जीवनको सुव्यवस्थित कल्याण-मार्गपर सदा अग्रसर करते रहनेके लिये एक महान् पथ-प्रदर्शक भी है, रामायणमें हमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके यशोमय दिव्य शरीरकी प्रत्यक्ष झाँकी मिलती है। रामायण केवल हिंदू-संस्कृतिका ही नहीं, मानव-संस्कृति-का भी प्राण है। यदि रामायणके ही आदर्शोंपर मानवजीवनका संगठन और संचालन किया जाय तो वह दिन दूर नहीं कि सर्वत्र रामराज्यके समान सुख-शान्तिका स्रोत बहने लगे।

प्रस्तुत पुस्तकमें श्रीवाल्मीकि, श्रीअध्यात्म और श्रीतुलसी-कृत 'रामायणके ही आधारपर श्रीरामचन्द्र, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न—इन चारों भाइयोंके पारस्परिक प्रेम और भक्ति-का बहुत ही मनोहर चित्रण किया गया है। आजकल दैहिक स्वार्थ और तुच्छ विषय-सुखकी मृगतृष्णामें फँसकर विवेक-शून्य हो जानेके कारण जो बहुधा भाई-भाईमें विद्वेषकी अग्नि धधकती दिखायी देती है, उसको अनवरत प्रेम-वारिकी वर्षा-

से सदाके लिये बुझा देनेमें यह पुस्तक बहुत ही सहायक हो सकती है। इसकी भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है, पढ़ते-पढ़ते नेत्रोंमें प्रेमके आँसू उमड़ आते हैं।

इस पुस्तककी उपादेयताके विषयमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका-द्वारा रचित तत्त्व-चिन्तामणि नामक पुस्तकके द्वितीय भाग-की एक किरण है। इसके प्रकाशमें रहनेपर भ्रातृ-विद्वेषरूपी सर्पसे डँसे जानेका भय सर्वथा दूर हो सकता है। अनेकों प्रेमीजनोंके अनुरोधसे सर्वसाधारणको अत्यन्त सुलभ करने-के लिये यह निबन्ध अलग पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया गया है। प्रेमी पाठकोंको इसे पढ़कर लाभ उठाना चाहिये।

इति।

विनीत

प्रकाशक

श्रीहरिः

आदर्श भ्रातृ-प्रेम

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम ।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समान मर्यादारक्षक आजतक कोई दूसरा नहीं हुआ, ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं होगा । श्रीराम साक्षात् परमात्मा थे, वे धर्मकी रक्षा और लोकोंके उद्धारके लिये ही अवतीर्ण हुए थे । उनके आदर्श लीलाचरित्रको पढ़ने, सुनने और स्मरण करनेसे हृदयमें महान् पवित्र भावोंकी लहरें उठने लगती हैं और मन मुग्ध हो जाता है । उनका प्रत्येक कार्य परम पवित्र, मनो-मुग्धकारी और अनुकरण करने योग्य है । ऐसे अनन्त गुणोंके समुद्र श्रीरामके सम्बन्धमें मुझ-सरीखे व्यक्तिका कुछ लिखना एक प्रकारसे लड़कपन है तथापि अपने मनोविनोदके लिये शास्त्रोंके आधारपर यत्किञ्चित् लिखनेका साहस करता हूँ । विज्ञजन क्षमा करें । श्रीराम सर्वगुणाधार थे । सत्य, सुहृदता, गम्भीरता, क्षमा, दया, मृदुता, शूरता, धीरता, निर्भयता, विनय, शान्ति, तितिक्षा, उपरामता, नीतिज्ञता, तेज, प्रेम, मर्यादा-संरक्षकता, एकपत्नीव्रत, प्रजारञ्जकता, ब्रह्मण्यता, मातृ-पितृ-भक्ति, गुरुभक्ति, भ्रातृ-

सरलता, व्यवहारकुशलता, प्रतिज्ञातत्परता, शरणागतवत्सलता, त्याग, साधु-संरक्षण, दुष्टविनाश, निर्वैरता, सख्यता और लोकप्रियता आदि सभी सद्गुणोंका श्रीराममें विलक्षण विकास था। इतने गुणोंका एकत्र विकास जगत्‌में कहीं नहीं मिलता। माता-पिता, बन्धु-मित्र, स्त्री-पुत्र, सेवक-प्रजा आदिके साथ उनका जैसा आदर्श बर्ताव है, उसकी ओर ख्याल करते ही मन मुग्ध हो जाता है। श्रीराम-जैसी लोकप्रियता तो आजतक कहीं नहीं देखनेमें आयी। कैकेयी और मन्थराको छोड़कर उस समय ऐसा कोई भी प्राणी नहीं था, जो श्रीरामके व्यवहार और प्रेमके बर्तावसे मुग्ध न हो गया हो। वास्तवमें कैकेयी भी श्रीरामके प्रभाव और प्रेमसे सदा मुग्ध थी। राम-राज्याभिषेककी बात सुनकर वह मन्थराको पुरस्कार देनेके लिये प्रस्तुत हुई थी, श्रीरामके गुणोंपर उसका बड़ा भारी विश्वास था। वनवास भेजनेके समय शत्रु बनी हुई कैकेयीके मुखसे भी ये सच्चे उद्गार निकल पड़ते हैं—

तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता।
जननी जनक बंधु सुखदाता॥
राम सत्य सबु जो कछु कहहू।
तुम्ह पितु मातु बचन रत अहहू॥

कैकेयीका रामके प्रति अप्रिय और कठोर बर्ताव तो भगवान्‌की इच्छा और देवताओंकी प्रेरणासे लोकहितार्थ हुआ था। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि कैकेयीको श्रीराम प्रिय नहीं थे। देव, मनुष्य और पशु-पक्षी किसीका भी रामसे विरोध नहीं था।

यज्ञविध्वंसकारी राक्षसों और शूर्पणखाके कान-नाक काटनेपर खर, दूषण, त्रिशिरा, रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदिके साथ जो वैर-भाव और युद्धका प्रसङ्ग आता है, उसमें भी रहस्य भरा है । वास्तवमें रामके मनमें उनमेंसे किसीके साथ वैर था ही नहीं । राक्षसगण भी अपने सकुटुम्ब-उद्धारके लिये ही उन्हें वैर-भावसे भजते थे । रावण और मारीचकी उक्तियोंसे यह स्पष्ट है—

सुर रंजन भंजन महि भारा ।
जौं भगवंत लीन्ह अवतारा ॥
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ ।
प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ ॥
होइहि भजनु न तामस देहा ।
मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा ॥

—रावण

मम पाछें धर धावत धरें सरासन बान ।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ धन्य न मो सम आन ॥

—मारीच

इससे यह सिद्ध है कि श्रीरामके जमानेमें चराचर जीवोंका श्रीरामके प्रति जैसा आदर्श प्रेम था, वैसा आजतक किसीके सम्बन्धमें भी देखने-सुननेमें नहीं आया ।

श्रीरामकी मातृ-भक्ति कैसी आदर्श है । स्वमाता और अन्य माताओंकी तो बात ही क्या, कठोर-से-कठोर व्यवहार करनेवाली कैकेयीके प्रति भी श्रीरामने भक्ति और सम्मानसे पूर्ण ही बर्ताव किया ।

जिस समय कैकेयीने वन जानेकी आज्ञा दी, उस समय श्रीराम उसके प्रति सम्मान प्रकट करते हुए बोले—माता ! इसमे तो सभी तरह मेरा कल्याण है—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर ।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर ॥

श्रीरामने कुपित हुए भाई लक्ष्मणसे कहा—

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यति ।
माता नः सा यथा न स्यात्सविशङ्का तथा कुरु ॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे ।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम् ॥
न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन ।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम् ॥

(वा० रा० २ । २२ । ६–८)

'हे लक्ष्मण ! मेरे राज्याभिषेकके संवादसे अत्यन्त परिताप पायी हुई माता कैकेयीके मनमें किसी प्रकारकी शङ्का न हो तुम्हे वैसा ही करना चाहिये । मैं उसके मनमें उपजे हुए शङ्कारूप दुःखको एक घड़ीके लिये भी नहीं सह सकता । हे भाई ! जहाँतक मुझे याद है, मैंने अपने जीवनमें जानमें या अनजानमे माताओंका और पिताजीका कभी कोई जरा-सा अप्रिय कार्य नहीं किया ।'

इसके बाद वनसे लौटते हुए भरतजीसे श्रीरामने कहा—

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम् ।
न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत् ॥

(वा० रा० २ । ११२ । १९)

'हे तात ! माता कैकेयीने (तुम्हारी हित-) कामनासे या (राज्यके) लोभसे जो यह कार्य किया, इसके लिये मनमें कुछ भी विचार न कर भक्तिभावसे उनकी माताकी भाँति सेवा करना ।'

इससे पता लगता है कि रामकी अपनी माताओंके प्रति कितनी भक्ति थी। एक वार लक्ष्मणने वनमें कैकेयीकी कुछ निन्दा कर डाली। इसपर मातृभक्त और भ्रातृप्रेमी श्रीरामने जो कुछ कहा सो सदा मनन करने योग्य है—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन ।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु ॥

(वा० रा० ३ । १६ । ३७)

'हे भाई ! विचली माता (कैकेयी) की निन्दा कभी मत किया करो। बातें करनी हों तो इक्ष्वाकुनाथ भरतके सम्बन्धमें करनी चाहिये ।' (क्योंकि भरतकी चर्चा मुझे बहुत ही प्रिय है।)

इसी प्रकार उनकी पितृभक्ति भी अद्भुत है। पिताके वचनोंको सत्य करनेके लिये श्रीरामने क्या नहीं किया। पिताको दुखी देखकर जब श्रीरामने कैकेयीसे दुःखका कारण पूछा, तब उसने कहा कि 'राजाके मनमें एक बात है, परंतु वे तुम्हारे डरसे कहते नहीं हैं, तुम इन्हे बहुत प्यारे हो, तुम्हारे प्रति इनके मुखसे अप्रिय वचन ही नहीं निकलते, यदि तुम राजाकी आज्ञापालनकी प्रतिज्ञा करो तो ये कह सकते हैं। तुमको वह कार्य अवश्य ही करना चाहिये, जिसके लिये इन्होंने मुझसे प्रतिज्ञा की है।' इसके उत्तरमें श्रीरामने कहा—

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः ।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ।
(वा० रा० २ । १८ । २८-२९)

'अहो, मुझे धिक्कार है, हे देवि ! तुमको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, मैं महाराजा पिताकी आज्ञासे आगमें कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष खा सकता हूँ, समुद्रमें कूद सकता हूँ ।' एक समय लक्ष्मणने जब यह कहा कि ऐसे कामासक्त पिताकी आज्ञा मानना अधर्म है, तब श्रीरामने सगरपुत्र और परशुरामजी आदि-का उदाहरण देते हुए कहा कि 'पिता प्रत्यक्ष देवता है, उन्होंने किसी भी कारणसे वचन दिया हो, मुझे उसका विचार नहीं करना है, मैं विचारक नही हूँ, मैं तो निश्चय ही पिताके वचनोंका पालन करूँगा ।'

विलाप करती हुई जननी कौसल्यासे श्रीरामने स्पष्ट ही कह दिया था कि—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥
(वा० रा० २ । २१ । ३०)

'मैं चरणोंमें सिर टेककर प्रणाम करता हूँ; मुझे वन जानेके लिये आज्ञा दो, माता ! पिताजीके वचनोंको टालनेकी मुझमें शक्ति नहीं है ।'

श्रीरामका एकपत्नीव्रत आदर्श है। पत्नी सीताके प्रति रामका कितना प्रेम था, इसका कुछ दिग्दर्शन सीताहरणके पश्चात् श्रीरामकी दशा देखनेसे होता है। महान् धीर-वीर राम विरहोन्मत्त होकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे कदम्ब, बेल, अशोकादि वृक्षोंसे और हरिणोंसे सीताका पता पूछते हैं। यहाँ भगवान् श्रीरामने अपने 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' के वचनोंको मानो चरितार्थ कर दिया है। वे विलाप करते हैं, प्रलाप करते हैं, पागलकी भाँति ज्ञानशून्य-से हो जाते हैं, मूर्छित हो पड़ते हैं और 'हा सीते, हा सीते' पुकार उठते हैं।

श्रीरामका सख्यप्रेम भी आदर्श है। सुग्रीवके साथ मित्रता होनेपर आप मित्रके लक्षण बतलाते हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना।
मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
देत लेत मन संक न धरई।
बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा।
श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

फिर उसे आश्वासन देते हुए कहते हैं—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें।
सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

इसी प्रकार रामका भ्रातृप्रेम भी अतुलनीय है। रामायणमें हमें जिस भ्रातृ-प्रेमकी शिक्षा मिलती है, भ्रातृ-प्रेमका जैसा उच्चाति-उच्च आदर्श प्राप्त होता है, वैसा जगत्के इतिहासमें कहीं नहीं है। पाण्डवोंमें भी परस्पर बड़ा भारी प्रेम था। उनके भ्रातृप्रेमकी कथाएँ पढ़-सुनकर चित्त द्रवित हो उठता है और हम उनकी महिमा गाने लगते हैं, परंतु रामायणके भ्रातृ-प्रेमसे उसकी तुलना नहीं हो सकती। रामायणकालसे महाभारतकालके भ्रातृ-प्रेमका आदर्श बहुत नीचा था। इस कालकी तो बात ही क्या है, जहाँ बात-बातमें लड़ाइयाँ होती हैं और जरा-जरासे सुख-भोगके लिये भाइयोंकी हत्यातक कर डाली जाती है। आज इस लेखमें श्रीराम-प्रभृति चारों भाइयोंके भ्रातृ-प्रेमके सम्बन्धमें यथामति किंचित् दिग्दर्शन कराया जाता है।

श्रीरामका भ्रातृ-प्रेम

लड़कपनसे ही श्रीराम अपने तीनों भाइयोंके साथ बड़ा भारी प्रेम करते थे। सदा उनकी रक्षा करते और उन्हे प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे। खेल-कूदमे भी कभी उनको दुखी नहीं होने देते थे। यहाँतक कि अपनी जीतमे भी उन्हें खुश करनेके लिये हार मान लेते थे और प्रेमसे पुचकार-पुचकारकर दाँव देते थे—

खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥

श्रीराम तीनों भाइयोंको साथ लेकर भोजन करते; साथ ही खेलते और सोते थे। विश्वामित्रजीके साथ उनके यज्ञरक्षार्थ श्रीराम-

लक्ष्मण वनमें गये। अनेक विद्या सीखकर और राक्षसोंका विनाश कर मुनिके साथ दोनों भाई जनकपुरमे पहुँचे। धनुष भंग हुआ। परशुरामजी आये और कोप करके धनुष तोड़नेवालेका नाम-धाम पूछने लगे, श्रीरामने बड़ी नम्रतासे और लक्ष्मणजीने तेजयुक्त वचनोंसे उनके प्रश्नका उत्तर दिया। लक्ष्मणजीके कथनपर परशुरामजीको बड़ा क्रोध आया, वे उनपर दाँत पीसने लगे। इसपर श्रीरामने जिस चतुरतासे भाईके कार्यका समर्थन कर भ्रातृ-प्रेमका परिचय दिया, उस प्रसङ्गके पढ़नेपर हृदय मुग्ध हो जाता है।

तदनन्तर विवाहकी तैयारी हुई, परंतु श्रीरामने स्वयंवरमें विजय प्राप्तकर अकेले ही अपना विवाह नहीं करा लिया। लक्ष्मणजी तो साथ थे ही, भरत-शत्रुघ्नको बुलाकर सबका विवाह भी साथ ही करवाया।

विवाहके अनन्तर अयोध्या लौटकर चारों भाई प्रेमपूर्वक रहने लगे और अपने आचरणोंसे सबको मोहित करने लगे। कुछ समय बाद भरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये। पीछेसे राजा दशरथने मुनि वशिष्ठकी आज्ञा और प्रजाकी सम्मतिसे श्रीरामके अति शीघ्र राज्याभिषेकका निश्चय किया। चारों ओर मङ्गल-बधाइयाँ बँटने लगीं और राज्याभिषेककी तैयारी की जाने लगी। वशिष्ठजीने आकर श्रीरामको यह हर्ष-संवाद सुनाया। राज्याभिषेककी बात सुनकर कौन प्रसन्न नहीं होता, परंतु श्रीराम प्रसन्न नहीं हुए, वे पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे, 'अहो! यह

कैसी बात है, जन्मे साथ, खाना-पीना, सोना-खेलना साथ हुआ, कर्णवेध, जनेऊ और विवाह भी चारोंके एक साथ हुए, फिर यह राज्य ही मुझ अकेलेको क्यों मिलना चाहिये, हमारे निर्मल कुलमें यही एक प्रथा अनुचित है कि छोटे भाइयोंको छोड़कर अकेले बड़ेको ही राजगद्दी मिलती है,—

जनमे एक संग सब भाई।
भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनवेध उपवीत बिआहा।
संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू।
बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

श्रीरामको अकेले राज्य स्वीकार करनेमें बड़ा अनौचित्य प्रतीत हुआ। मनकी प्रसन्नतासे नहीं, परंतु पिताकी आज्ञासे उन्हें राज्याभिषेकका प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। परंतु उनके मनमें यही था कि मैं सिर्फ यह प्रथाभर पूरी कर रहा हूँ, वास्तवमें राज्य तो भाइयोंका ही है। भरत-शत्रुघ्न तो उस समय मौजूद नहीं थे, अतः श्रीरामजीने लक्ष्मणसे कहा—

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये॥

(वा० रा० २। ४। ४४)

'भाई सौमित्रे! तुम वाञ्छित भोग और राज्यफलका भोग करो, मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे ही लिये है।'

इसके वाद ही इस लीला-नाटकका पट-परिवर्तन हो गया। माता कैकेयीकी कामनाके अनुसार राज्याभिषेक वनगमनके रूपमें परिणत हो गया। प्रातःकालके समय जब श्रीराम पिता दशरथकी सम्मतिसे सुमन्तके द्वारा कैकेयीके महलमें बुलाये गये और जब उन्हें कैकेयीके वरदानकी वात मालूम हुई, तब उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। वे कहने लगे कि 'माता! इसमें वात ही कौन-सी है। मुझे तो केवल एक ही बातका दुःख है कि महाराजने भरतके अभिषेकके लिये मुझसे ही क्यों नहीं कहा—

गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः।
भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात्॥
दण्डकारण्यमेषोऽहं गच्छाम्येव हि सत्वरः।
अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश॥
(वा० रा० २। १९। १०-११)

'महाराजकी आज्ञासे दूतगण अभी तेज घोड़ोंपर सवार होकर मामाजीके यहाँ भाई भरतको लानेके लिये जायँ। मैं पिताजीके वचन सत्य करनेके लिये विना कुछ विचार किये चौदह वर्षके लिये दण्डकारण्य जाता हूँ।' प्राणप्रिय भाई भरतका राज्याभिषेक हो, इससे अधिक प्रसन्नता मेरे लिये और क्या होगी? विधाता आज सब तरहसे मेरे अनुकूल है—

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू।
विधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा।
प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

धन्य है यह त्याग ! आदिसे अन्ततक कहीं भी राज्य-लिप्साका नाम नहीं, और भाइयोंके लिये सर्वदा सर्वस्व त्याग करनेको तैयार । इस प्रसङ्गसे हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि छोटे भाइयोंको छोड़कर राज्य, धन या सुखको अकेले कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये । योग्यतावश कहीं ग्रहण करना ही पड़े तो उसमें भाइयोंका अपनेसे अधिक अधिकार समझना चाहिये, वल्कि यह मानना चाहिये कि उन्हीं लोगोंके लिये मैं इसे ग्रहण करता हूँ और यदि ऐसा मौका आ जाय कि जब भाइयोंको राज्य, धन, सुख मिलता हो और इसलिये अपनेको त्याग करना पड़े, तब बहुत ही प्रसन्न होना चाहिये । अस्तु !

इसके बाद श्रीराम माता कौसल्या और पत्नी सीतासे विदा माँगने गये । श्रीरामने भरत या कैकेयीके प्रति कोई भी अपशब्द या विद्वेषमूलक शब्द नहीं कहा, बल्कि सीतासे आपने कहा—

> वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः ।
> स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः ॥
> भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः ।
> त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥
>
> (वा० रा० २ । २६ । ३२-३३)

'मेरी अन्य माताओंको भी नित्य प्रणाम करना, क्योंकि मुझपर स्नेह करनेमें और मेरा लाड़-प्यार तथा पालन-पोषण करनेमें मेरी सभी माताएँ समान है । साथ ही तुम भरत-शत्रुघ्नको

भी अपने भाई और बेटेके समान या उससे भी विशेष समझना, क्योंकि वे दोनों मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हैं।'

यहाँ विशेष आग्रह और प्रेमके कारण सीताजीको भी साथ चलनेकी अनुमति श्रीरामको देनी पड़ी, तब लक्ष्मणजीने भी साथ चलना चाहा। श्रीराम ऐसे तो पुरुष थे ही नहीं, जो अपने आरामके लिये लक्ष्मणसे कहते या उसे उभारते कि 'ऐसे अन्याय राज्यमे रहकर क्या करोगे, तुम भी साथ चलो।' उन्होंने लक्ष्मणको घर रहनेके लिये बहुत समझाया, अनेक युक्तियोंसे यह चेष्टा की कि किसी तरह लक्ष्मण अयोध्यामें रहे, जिससे राज्य-परिवारकी सेवा-सम्हाल हो सके और लक्ष्मणको वनके कष्ट न भोगने पड़े; परंतु जब लक्ष्मणने किसी तरह नहीं माना, तब उसको सुख पहुँचानेके लिये श्रीरामने साथ ले जाना स्वीकार किया।

श्रीराम छोटे भाई लक्ष्मण और सीतासहित वनको चले गये। वनमें लक्ष्मणजी श्रीराम-सीताकी हर तरह सेवा करते हैं और श्रीराम भी वही कहते और करते हैं, जिससे श्रीसीताजी और भाई लक्ष्मण सुखी हों।

सीय लखन जेहि विधि सुखु लहहीं।
सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं॥
जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसें।
पलक बिलोचन गोलक जैसें॥

इससे यह सीखना चाहिये कि अपनी सेवा करनेवाले छोटे भाई और पत्नीको जैसे सुख पहुँचे, वैसे ही कार्य करने चाहिये

तथा उनकी वैसे ही रक्षा करनी चाहिये, जैसे पलके आँखोंकी करती हैं।

× × ×

भरतके ससैन्य वनमें आनेका समाचार प्राप्तकर जब श्रीराम-प्रेमके कारण लक्ष्मणजी क्षुब्ध होकर भरतके प्रति न कहनेयोग्य शब्द कह बैठे, तब श्रीरामने भरतकी प्रशंसा करते हुए कहा—भाई! भरतको मारनेकी बात तुम क्यों कहते हो, मुझे अपने बान्धवोंके नाश करनेसे प्राप्त होनेवाला धन नहीं चाहिये, वह तो विषयुक्त अन्नके समान है—

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थे एतत्प्रतिशृणोमि ते॥
भ्रातृणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं चापि मानद।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद्भस्म तत्कुरुतां शिखी॥
मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः।
मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन्॥
श्रुत्वा प्रव्रजितं मां हि जटावल्कलधारिणम्।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषोत्तम॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथागतः॥

अम्बां च कैकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन्।
प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दातुमागतः ॥
(वा० रा० २ । ९७ । ५-६ एवं ८ से १२)

'हे लक्ष्मण ! मैं सत्य और आयुधकी शपथ करके कहता हूँ कि धर्म, अर्थ, काम और सारी पृथिवी तथा और जो कुछ चाहता हूँ, वह सब तुम्हीं लोगोंके लिये ! हे लक्ष्मण ! मैं भाइयोंकी भोग्य-सामग्री और सुखके लिये ही राज्य चाहता हूँ । हे मान देनेवाले भाई लक्ष्मण ! भरत, तुम और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख होता हो तो उसमें आग लग जाय । हे पुरुषश्रेष्ठ वीर लक्ष्मण ! मैं तो समझता हूँ, मेरे प्राणप्यारे भ्रातृवत्सल भाई भरतने जब अयोध्यामें आकर यह सुना होगा कि मैं जटाचीर धारणकर तुम्हारे और जानकीके साथ वनमें चला गया हूँ, तब वह कुलधर्मको स्मरण करके अति स्नेह और शोकके कारण व्याकुल तथा कातर होकर अप्रिय वचनोंसे माता कैकेयीको अप्रसन्न और पिता दशरथजीको प्रसन्न करता हुआ हमलोगोंके दर्शनके लिये तथा मुझे लौटाकर राज्य देनेके लिये ही आ रहा है ।' वह मनसे भी कभी विपरीत आचरण नहीं कर सकता । यदि तुम्हें राज्यकी इच्छा हो तो मैं भरतसे कहकर दिलवा दूँगा । तुम भरतके सम्बन्धमें भूल समझ रहे हो ! भाई भरतको कभी राज्यमद नहीं हो सकता—

सुनहु लखन भल भरत सरीसा ।
बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा ॥

भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ ॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना ।
सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना ॥
सगुनु खीरु अवगुन जलु ताता ।
मिलइ रचइ परपंचु बिधाता ॥
भरतु हंस रबिबंस तड़ागा ।
जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा ॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी ।
निज जस जगत कीन्हि उजिआरी ॥
कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ ।
पेम पयोधि मगन रघुराऊ ॥

श्रीराम भरतका गुणगान करते हुए प्रेमके समुद्रमें निमग्न हो गये । लक्ष्मणजीको अपनी भूल मालूम हो गयी । यहाँ भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणके प्रति जो नीतियुक्त तीखे और प्रेमभरे वचन कहे, उनमें प्रधान अभिप्राय तीन समझने चाहिये । प्रथम भरतके प्रति श्रीरामका परम विश्वास प्रकट करना, दूसरे, लक्ष्मण-को यह चेतावनी देना कि तुम भरतकी सरलता, प्रेम, त्याग आदिको जानते हुए भी मेरे प्रेमवश प्रमादसे बालककी तरह ऐसा क्यों बोल रहे हो ? और तीसरे, उन्हें फटकारकर ऐसे अनुचित मार्गसे बचाना ।

भरत आये और 'हे नाथ ! रक्षा करो' कहकर दण्डकी तरह पृथ्वीपर गिर पड़े । सरलहृदय श्रीलक्ष्मणने भरतकी वाणी पहचानकर उन्हें श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करते देखा, हृदयमें भ्रातृ-प्रेम उमड़ा, परंतु सेवाधर्म बड़ा जबरदस्त है । लक्ष्मणजीका मन करता है कि भाई भरतको हृदयसे लगा लूँ; परंतु फिर अपने कर्तव्यका ध्यान आता है, तब श्रीराम-सेवामें खड़े रह जाते हैं।

मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई ।
सुकबि लखन मन की गति भनई ॥
रहे राखि सेवा पर भारू ।
चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू ॥

आखिर सेवामें लगे रहना ही उचित समझा, परंतु श्रीराम-से निवेदन किये बिना उनसे नहीं रहा गया—लक्ष्मणजीने सिर नवाकर प्रेमसे कहा—

भरत प्रनाम करत रघुनाथा ।

भगवान् तो भरतका नाम सुनते ही विह्वल हो गये और प्रेममें अधीर होकर उन्हें उठाकर गले लगानेको उठ खड़े हुए । उस समय श्रीरामकी कैसी दशा हुई—

उठे रामु सुनि पेम अधीरा ।
कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा ॥
बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान ।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान ॥

यहाँ चारों भाइयोंका परस्पर प्रेम देखकर सभी मुग्ध हो गये। भरतकी विनय, नम्रता, साधुता और रामभक्ति देखकर तो लोग तन-मनकी सुधि भूल गये। श्रीरामको पिताके मरण-संवादसे बड़ा दुःख हुआ। यथोचित शास्त्रोक्त विधिसे क्रिया करनेके बाद समाज जुड़ा। भरतने भाँति-भाँतिसे अनेक युक्तियाँ दिखलाकर श्रीरामको राज्य-ग्रहणके लिये प्रार्थना की। वशिष्ठादि ऋषियोंने, मन्त्री, पुरवासी और माताओंने भी भरतका साथ दिया। जब भगवान् श्रीरामने किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया, तब भरत-जीने कहा कि मैं अनशनव्रत रखकर प्राण दे दूँगा। इसपर श्री-रामने उन्हें पहले तो धरना देनेके लिये फटकारा, फिर विविध भाँतिसे समझाकर शान्त किया और अन्तमें चरणोंमे पड़े रोते हुए भरतको अपने हाथोंसे खींचकर गोदमें बैठा लिया और प्रेमवश कहने लगे—

हे भरत! मुझे वनवाससे लौटाकर राज्याभिषेक करानेके लिये तुमको जो बुद्धि हुई है सो स्वाभाविक ही है, यह गुरुसेवा-द्वारा प्राप्त विनय-विवेकका फल है। इस श्रेष्ठ बुद्धिके कारण तुम समस्त पृथ्वीका पालन कर सकते हो, परंतु—

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥

(वा० रा० २। ११२। १८)

'चन्द्रमा चाहे अपनी श्री त्याग दे, हिमालय हिमको छोड़ दे, समुद्र मर्यादाका उल्लङ्घन कर दे, पर मै पिताकी प्रतिज्ञाको सत्य किये विना घर नहीं लौट सकता।'

श्रीगोसाईंजीने लिखा है कि श्रीरामने अन्तमें प्रेमविवश होकर भरतजीसे कहा कि—

भैया ! तुम दुःख न करो, जीवकी गति ईश्वराधीन है, हे भाई ! मेरी समझसे तो तीनों काल और तीनों लोकोंमें जितने पुण्यश्लोक पुरुष हैं, वे सब तुमसे नीचे हैं । तुमको जो मनमें भी कुटिल समझेगा, उसके लोक-परलोक बिगड़ जायँगे, माता कैकेयी-को भी वही लोग दोष देंगे, जिन्होंने गुरु और साधुओंका सङ्ग नहीं किया है । मै शिवको साक्षी देकर सत्य कहता हूँ कि भाई ! अब यह पृथ्वी तुम्हारे रक्खे ही रहेगी । तुम अपने मनमें कुछ भी शङ्का न करो ! हे प्यारे ! देखो, महाराजने मुझको त्याग दिया, प्रेमका प्रण निवाहनेके लिये शरीर भी छोड़ दिया, परंतु सत्य नहीं छोड़ा । इसलिये मुझको उनके वचन टालनेमें बड़ा संकोच हो रहा है, परंतु उससे भी बढ़कर मुझे तुम्हारा संकोच है, गुरुजी भी कहते हैं, अतः अब सारा भार तुमपर है, तुम जो कुछ कहो, मैं वही करनेको तैयार हूँ—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु ।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु ॥

'सोच छोड़कर प्रसन्न मनसे आज तुम जो कुछ कह दोगे, वही करनेको तैयार हूँ यानी मुझे सत्य बहुत प्यारा है, परंतु उससे भी बढ़कर तुम प्यारे हो । तुम्हारे लिये सब कुछ कर सकता हूँ ।' इससे अधिक भ्रातृ-प्रेम और क्या होगा ? जिस

सत्यके लिये पिता-माताकी परवा नहीं की, आज अनायास वही सत्य, लौटानेके लिये आये हुए भाई भरतके प्रेमपर छोड़ दिया गया !

भरतजी भी तो श्रीरामके ही भाई थे । उन्होंने बड़े भाई श्रीरामका अपने ऊपर इतना प्रेम देखकर उन्हें संकोचमें डालना नहीं चाहा और बोले कि—

जो सेवकु साहिबहि सँकोची । निज हित चहइ तासु मति पोची ॥

जो दास अपने मालिकको संकोचमें डालकर अपना कल्याण चाहता है, उसकी बुद्धि बड़ी नीच है । मैं तो आपके राजतिलकके लिये सामग्री लाया था, परंतु अब—

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब ।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब ॥

'प्रभु निःसंकोच होकर प्रसन्नतासे जिसको जो आज्ञा देंगे, वह उसीको सिर चढ़ाकर करेगा, जिससे सारी उलझन आप ही सुलझ जायगी ।' अन्तमें श्रीरामने कहा—'भैया ! तुम मन, वचन, कर्मसे निर्मल हो, तुम्हारी उपमा तुम्हीं हो, बड़ोंके सामने छोटे भाईके गुण इस कुसमयमें कैसे बखानूँ ? भाई ! तुम अपने सूर्यवंशकी रीति, पिताजीकी कीर्ति और प्रीति जानते हो, और भी सारी बातें तुमपर विदित हैं । अवश्य चौदह वर्षतक तुमको बहुत कष्ट होगा ।

जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा । कुसमयँ तात न अनुचित मोरा ॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए । ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाए ॥

'हे प्यारे ! मैं तुम्हारे हृदयकी कोमलता जानता हुआ भी तुम्हें यह कठोर वचन कह रहा हूँ, परंतु क्या करूँ ? यह समय ही ऐसा है, इस समयके लिये यही उचित है, जब बुरा समय आता है, तब भले भाई ही काम आते हैं, तलवारके वारको बचानेके लिये अपने ही हाथकी आड़ करनी पड़ती है।'

भगवान्‌के इन प्रेमपूर्ण रहस्यके वचनोंको सुनते ही भरत श्रीरामकी रुखको भलीभाँति समझ गये। उनका विषाद दूर हो गया; परंतु चौदह साल निराधार जीवन रहेगा कैसे ? अतः—

सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पारु पावौं जेहि सेई॥

—भगवान्‌ने उसी समय भरतजीके इच्छानुसार अपनी चरणपादुका परम तेजस्वी महात्मा भरतजीको दे दी। भरतजी पादुकाओंको प्रणामकर मस्तकपर धारणकर अयोध्या लौट गये।

× × ×

श्रीरामने कुछ समयतक चित्रकूटमें निवास किया, फिर ऋषियोंके आश्रमोंमें घूमते-घूमते पञ्चवटीमें आये। वहाँ कुछ समय रहे। वनमें रहते समय भगवान् प्रतिदिन ही लक्ष्मणजीको भाँति-भाँतिसे ज्ञान, भक्ति, वैराग्यका उपदेश किया करते। एक दिन उपदेश देते हुए उन्होंने कहा—

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥

वचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम ।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम ॥

इस प्रकार सत्-चर्चा और परम रहस्यके वार्तालापमें ही समय बीतता था । भाईपर इतना प्रेम था कि श्रीराम इन्हें हृदय खोल-कर अपना रहस्य समझाते थे ।

× × ×

सीता हरण हुआ, लङ्कापर चढ़ाई की गयी और भयानक युद्ध आरम्भ हो गया । एक दिन शक्तिबाणसे श्रीलक्ष्मणके घायल हो जानेपर श्रीरामने भाईके लिये जैसी विलाप-प्रलापकी लीला की, उससे पता लगता है कि छोटे भाई लक्ष्मणके प्रति श्रीरामका कितना अधिक स्नेह था ।

श्रीराम कहने लगे—

किं मे युद्धेन किं प्राणैर्युद्धकार्यं न विद्यते ।
यत्रायं निहतः शेते रणमूर्धनि लक्ष्मणः ॥
यथैव मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः ।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम् ॥

(वा० रा० ६ । १०१ । १२-१३)

'अब मुझे युद्धसे या जीवनसे क्या प्रयोजन है ? जब कि प्यारा भाई लक्ष्मण निहत होकर रणभूमिमें सो चुका है, युद्धका कोई काम नहीं है । भाई ! जिस प्रकार महातेजस्वी तुम मेरे साथ वनमें आये थे, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ परलोकमें जाऊँगा ।' गोसाईंजी लिखते हैं—

श्रीराम प्रलाप करते हुए कहते हैं—

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ।
बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता।
सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई।
उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥
जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू।
पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत बित नारि भवन परिवारा।
होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता।
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥
जथा पंख बिनु खग अति दीना।
मनि बिनु फनि करिबर कर हीना॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही।
जौं जड़ दैव जिआवै मोही॥
जैहउँ अवध कौन मुहु लाई।
नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई॥
बरु अपजस सहतेउँ जग माहीं।
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा।
सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥

निज जननी के एक कुमारा।
तात तासु तुम्ह प्रान अधारा॥
सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी।
सब बिधि सुखद परम हित जानी॥
उतरु काह दैहउँ तेहि जाई।
उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥
बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन।
स्रवत सलिल राजिव दल लोचन॥*

---

* यह भगवान् श्रीरामकी प्रलाप लीला मानी जाती है; प्रलापमें कुछ-का-कुछ कहा जाना ही स्वाभाविक है। 'प्रभु प्रलाप सुनि कान' आगेके दोहेके इस वाक्यसे भी प्रलाप ही सिद्ध होता है। भगवान् शिवके इन वचनोंसे कि 'उमा एक अखंड रघुराई। 'नर गति' भगत कृपाल देखाई॥' से भी साधारण मनुष्यवत् प्रलाप ही ठहरता है। इससे अर्थान्तर करनेकी आवश्यकता नहीं, परंतु यदि दूसरा अर्थ किया जाय तो उपर्युक्त चौपाइयोंमें—'जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥' इस चौपाईका अर्थ यह करना चाहिये कि यदि मैं जानता कि वनमे बन्धुओंसे बिछोह होगा तो मैं (पिता बचन मनतेउँ) पिताके वचन मानकर वनमें तो आता, परंतु ('नहिं ओहू') लक्ष्मणका आग्रह स्वीकारकर उसे वनमे साथ नहीं लाता।

इसी प्रकार 'निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा॥' इस चौपाईका अर्थ यों करना चाहिये कि मैं जैसे अपनी माताका प्यारा इकलौता बेटा हूँ, वैसे ही अपनी माता सुमित्राके तुम प्राणाधार हो।

इस चौपाईका अर्थ यह भी किया जा सकता है कि 'मै अपनी माताके एक ही लड़का हूँ और तुम उसके (मेरे) प्राणाधार हो अर्थात् तुम्हारे जीवनसे ही मेरा जीवन है।'

जो भाई अपने लिये घर-द्वार छोड़कर मरनेको तैयार है, उसके लिये विलाप किया जाना उचित ही है, परंतु श्रीरामने तो विलापकी पराकाष्ठा कर भ्रातृ-प्रेमकी बड़ी ही सुन्दर शिक्षा दी है।

श्रीहनूमान्‌जीके द्वारा संजीवनी लानेपर लक्ष्मणजी स्वस्थ हो गये। राम-रावण-युद्ध समाप्त हुआ। सीता-परीक्षाके अनन्तर श्रीराम सबको साथ लेकर पुष्पक-विमानके द्वारा अयोध्या लौटनेकी तैयारीमें हैं। इसी समय विभीषण प्रार्थना करने लगे—

'भगवन्! यदि मै आपके अनुग्रहका पात्र हूँ, यदि आप मुझपर स्नेह करते हैं तो मेरी प्रार्थना है—आप कुछ समयतक यहाँ रहें। लक्ष्मण और सीतासहित आपकी मैं पूजा करना चाहता हूँ। आप अपनी सेना तथा मित्रोंसहित घर पधारकर उसको पवित्र करें और यत्किञ्चित् सत्कार स्वीकार करें। मैं आपके प्रति आज्ञा नहीं कर रहा हूँ, परन्तु स्नेह-सम्मान और मित्रताके कारण एक सेवककी भाँति आपको प्रसन्न करनेकी अभिलाषा रखता हूँ।' (वा० रा० ६। १२१। १२–१५) विनयका क्या ही सुन्दर सीखने योग्य तरीका है!

श्रीरामने उत्तरमें कहा—

न खल्वेतन्न कुर्यां ते वचनं राक्षसेश्वर।
तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः॥
मां निवर्तयितुं योऽसौ चित्रकूटमुपागतः।
शिरसा याचतो यस्य वचनं न कृतं मया॥

(वा० रा० ६। १२१। १८-१९)

'हे राक्षसेश्वर ! मैं इस समय तुम्हारी बात नहीं मान सकता, मेरा मन भाई भरतसे मिलनेके लिये छटपटा रहा है, जिसने चित्रकूटतक आकर मुझे लौटानेके लिये विनीत प्रार्थना की थी और मैंने उसको स्वीकार नहीं किया था ।' मित्रवर ! तुम मेरी इस प्रार्थना-पर दुःख न करना ।

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु तात ।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात ॥
तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि ।
देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरउँ तोहि ॥
बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर ।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर ॥

विभीषण नहीं रोक सके, विमानपर सवार होकर चले । भगवान्‌ने अपने आनेका संवाद हनूमान्‌के द्वारा भरतजीके पास पहलेसे ही भेजकर उन्हें सुख पहुँचाया ।

तदनन्तर अनन्तशक्ति भगवान् श्रीराम अयोध्या पहुँचकर क्षणमें लीलासे ही सबसे मिल लिये ।

प्रेमातुर सब लोग निहारी । कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी ॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला । जथाजोग मिले सबहि कृपाला ॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी । किए सकल नर नारि बिसोकी ॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना । उमा मरम यह काहुँ न जाना ॥

भरतके साथ भगवान्‌का मिलन तो अपूर्व आनन्दमय है । फिर शत्रुघ्नसे मिलकर उनका विरह-दुःख नष्ट किया । राजतिलककी

तैयारी हुई । स्नान-मार्जन होने लगा । श्रीराम भी भाइयोंकी वात्सल्य-भावसे सेवा करने लगे । भरतजी बुलाये गये; श्रीरामने अपने हाथोंसे उनकी जटा सुलझायी । तदनन्तर तीनों प्राणप्रिय भाइयोंको श्रीरामने स्वयं अपने हाथसे मल-मलकर नहलाया । भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न पितृतुल्य श्रीरामके इस वात्सल्य-भावसे मुग्ध हो गये ।

पुनि करुनानिधि भरतु हँकारे । निज कर राम जटा निरुआरे ॥
अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई । भगत बछल कृपाल रघुराई ॥
भरत भाग्य प्रभु कोमलताई । सेष कोटि सत सकहिं न गाई ॥

शिवजी कहते हैं कि भरतजी (आदि भाइयों) के भाग्य और प्रभुकी कोमलताका बखान सौ करोड़ शेषजी भी नहीं कर सकते ! धन्य भ्रातृ-प्रेम !!

भगवान् श्रीराम तीनों भाइयोंसे सेवित होकर राज्य करने लगे। रामराज्यकी महिमा कौन गा सकता है ? भगवान् समय-समयपर अपनी प्रजाको इकट्ठा कर उन्हें विविध भाँतिसे लोक-परलोकमें उन्नति और कल्याणके साधनोंके सम्बन्धमें शिक्षा देते हैं । ऐसा न्याय और दयापूर्ण शासन, सुन्दर वर्ताव, प्रेमभाव, लोक-परलोकमें सुख पहुँचानेवाली तथा मुक्तिदायिनी शिक्षा, सब प्रकारके सुख रामराज्यके अतिरिक्त अबतक अन्य किसी भी राज्यमें कभी देखे, सुने या पढ़े नहीं गये ।

× × ×

समय-समयपर भाइयोंको साथ लेकर श्रीराम वन-उपवनोंमें जाते हैं, भाँति-भाँतिके शिक्षाप्रद उपदेश करते हैं, एक समय सब

उपवनमें गये। भरतजीने श्रीरामके लिये अपना दुपट्टा बिछा दिया, भगवान् उसपर विराजे, तदनन्तर श्रीहनूमान्‌जीके द्वारा भरतजीके प्रश्न करनेपर श्रीरामने संत-असतके लक्षण बतलाते हुए अन्तमें बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया--

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा॥
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥
कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता॥
अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि संसृत दुख जाने॥
त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक। भजहिं मोहि सुर नर मुनि नायक॥

कैसे सुन्दर सबके ग्रहण करनेयोग्य उपदेश हैं! ऐसे बड़े भाई अनन्त पुण्य-बलसे ही प्राप्त होते हैं॥

× × ×

आगे चलकर लवणासुरको मारनेके लिये शत्रुघ्नके कहनेपर श्रीरामने उन्हे रणाङ्गणमें भेजना स्वीकारकर कहा कि 'वहाँका राज्य तुम्हें भोगना पड़ेगा। मेरी आज्ञाका प्रतिवाद न करना।' शत्रुघ्नको राज्याभिषेककी बात बहुत बुरी लगी, परंतु रामाज्ञा समझकर उसे स्वीकार करना पड़ा। न चाहनेपर भी छोटे भाईको वचनोंमें बाँधकर राज्यसुख देना, राम-सरीखे बड़े भाईका ही कार्य है।

इसके बाद लक्ष्मण-त्यागका प्रश्न आता है, कुछ लोग इसको श्रीरामका बड़ा ही निष्ठुर कार्य समझते हैं। जिस भाईने राज्य और राजाको दारुण ऋषि-शापसे बचाया, उसके लिये पुरस्काररूपमें भी पहलेका विधान बदल देना उचित था, परंतु ऐसा कहनेवाले लोग इस बातको भूल जाते हैं कि श्रीराम सत्य-प्रतिज्ञ हैं, इसी सत्यकी रक्षाके लिये उन्होंने लक्ष्मणका त्याग कर दिया; परंतु प्यारे भाई लक्ष्मणका वियोग होते ही आप भी भरत, शत्रुघ्न और प्रजा-परिजनोंको साथ लेकर परमधामको प्रयाण कर गये!

श्रीरामके भ्रातृप्रेमका यह अति संक्षिप्त वर्णन है। श्रीराम-की भ्रातृ-वत्सलताका इससे कुछ अनुमान हो सकता है। भाइयोंके लिये ही राज्य ग्रहण करना, भाईको राज्य मिलनेके प्रस्तावसे अपना हक छोड़कर परम आनन्दित होना, जिसके कारण राज्या-भिषेक रुका, उस भाई भरतकी माता कैकेयीपर भक्ति करना, भरतका गुण-गान करना, धरना देनेके समय भरतको और भरत-पर क्रोध करनेके समय लक्ष्मणको फटकार बताकर अन्यायमार्गसे बचाना, भरतकी इच्छापर अपने सत्यव्रतको भी छोड़ देना, लक्ष्मण-जीके शक्ति लगनेपर उनके साथ प्राण त्याग करनेको तैयार हो जाना, समय-समयपर सदुपदेश देना, स्वार्थ छोड़कर सबपर सम-भावसे पूर्ण प्रेम करना और लवणासुरपर आक्रमणके समय जबर-दस्ती राज्याभिषेकके लिये शत्रुघ्नसे स्वीकार कराना आदि श्रीराम-के आदर्श भ्रातृप्रेमपूर्ण कार्योंसे हम सबको यथायोग्य शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

श्रीभरतका भ्रातृ-प्रेम

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

भरतजीकी अपार महिमा है। रामायणमें भरतजीका ही एक ऐसा उज्ज्वल चरित्र है, जिसमें कहीं कुछ भी दोष नहीं दीख पड़ता। भरतजी धर्मके ज्ञाता, नीतिज्ञ, त्यागी, सद्गुणोंसे युक्त, संयमी, सदाचारी, प्रेम और विनयकी मूर्ति, श्रद्धाभक्तिसम्पन्न और बड़े बुद्धिमान् थे। वैराग्य, सत्य, तप, क्षमा, तितिक्षा, दया, वात्सल्य, धीरता, शान्ति, सरलता, गम्भीरता, सौम्यता, समता, मधुरता, अमानिता, सुहृदता और स्वामिसेवा आदि गुणोंका इनमें विलक्षण विकास था। भ्रातृ-प्रेमकी तो आप मानो सजीव मूर्ति थे।

श्रीराम-वनवास अच्छा ही हुआ; जिससे भरतजीका उच्च प्रेम-भाव जगत्‌में प्रकट हो गया। रामवियोग न होता तो विश्व-को इस अतुल प्रेमकी सुधा-धारामें अवगाहन करनेका सुअवसर शायद ही मिलता।

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥

'गम्भीर समुद्ररूप भरतजीको अपने वनवासरूपी मन्दराचल पर्वतसे मथकर कृपासिन्धु रघुनाथजीने सुर-संतोंके हितार्थ प्रेमरूपी अमृतको प्रकट किया है।'

श्रीराम-वनवास और दशरथजीकी मृत्यु होनेपर गुरु वशिष्ठकी आज्ञासे भरत-शत्रुघ्नको बुलानेके लिये केकयदेशको दूत जाते हैं। उधर भरतजीको दुःस्वप्न होता है, जिससे वे व्याकुल हो जाते हैं और माता-पिता तथा भाई-भौजाईकी मङ्गलकामनासे दान-पुण्य करते हैं। दूतोंने जाकर गुरुका सन्देश सुना दिया। भरतजीने कुशल पूछी, जिसके उत्तरमें दूतोंने भी मानो व्यङ्गसे ही कहा कि 'आप जिनकी कुशल पूछते हैं, वे कुशलसे हैं।' भरतजी उसी दिन चल पड़े। अयोध्यामें पहुँचकर उसे श्रीहीन देख बड़े दुःखित हुए, उनका हृदय परिवारकी अनिष्ट-आशङ्कासे भर गया। न तो किसीसे कुछ पूछनेकी हिम्मत हुई और न किसीने कुछ कहा ही। लोग तो उस समय भरतजीको राम-वनवास और दशरथकी मृत्युमें हेतु समझकर बहुत ही बुरी दृष्टिसे देखते थे, अतः उनसे कोई अच्छी तरह बोलता ही कैसे? आगे चलकर प्रजाने साफ कहा है—

मिथ्या प्रव्राजितो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः।
भरते सन्निबद्धाः स्मः सौनिके पशवो यथा॥

(वा० रा० २।४८।२८)

'झूठा बहाना करके कैकेयीने श्रीरामको सीता-लक्ष्मणसहित वनमें भेज दिया है। अब हमलोग उसी प्रकार भरतके अधीन हैं, जैसे कसाईके अधीन पशु होते हैं।'

लोग सामने आते हैं और दूरसे ही जुहार करके मुँह फेरकर चले जाते हैं—

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गवँहिं जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं भय बिषाद मन माहिं॥

घबराये हुए भरतजी पिताकी खोजमें माता कैकेयीके महलमें पहुँचे और पिता कहाँ हैं ? ऐसा पूछने लगे। कैकेयी अपने कियेपर फूली नहीं समाती थी, वह समझती थी कि भरत भी मेरी कृति सुनकर राजी होंगे, अतः उसने कठोर बनकर झट्से कह दिया—

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः।
राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतां गतिः॥

(वा० रा० २।७२।१५)

'सब भूत-प्राणियोंकी अन्तमें जो गति होती है, वही तुम्हारे पिताकी भी हुई। महात्मा, तेजस्वी और यज्ञ करनेवाले राजाने सत्पुरुषोंकी गति प्राप्त की है।'

यह सुनते ही भरत शोकपीड़ित हो 'हाय! मैं मारा गया' पुकारकर सहसा पछाड़ खाकर पृथ्वीपर गिर पड़े। भाँति-भाँतिसे विलाप करते हुए कहने लगे, 'हाय पिताजी! मुझे दुःखसागरमें छोड़कर कहाँ चले गये ?'—

असमर्प्यैव रामाय राज्ञे मां क्व गतोऽसि भोः।

(अध्यात्मरा० २।७।६७)

'हे पिता! मुझे राजा रामके हाथोंमें सौंपे बिना ही आप कहाँ चले गये ?' कैकेयीने विलाप करते हुए भरतको उठाकर उसके आँसू पोंछे और कहा कि 'बेटा! धीरज रक्खो, मैंने तुम्हारे

लिये सब काम बना रक्खा है—'समाश्वसिहि भद्रं ते, सर्वं सम्पादितं मया' (अ० रा० २ । ७ । ६८) परंतु भरतजीका रोना बंद नहीं हुआ, उन्होंने कहा—

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः ।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥
पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः ।
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम ॥
धर्मविद् धर्मशीलश्च महाभागो दृढव्रतः ।
आर्ये किमब्रवीद्राजा पिता मे सत्यविक्रमः ॥
पश्चिमं साधुसन्देशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः ।
(वा० रा० २ । ७२ । ३२–३५)

'यह तो मुझे शीघ्र बता कि सरल आचरण और स्वभाव-वाले मेरे पिता-तुल्य बड़े भाई वह श्रीरघुनाथजी कहाँ हैं, जिनका मैं प्रिय दास हूँ। मैं उनके चरण-वन्दन करूँगा, क्योंकि अब वे ही मेरे अवलम्ब हैं, आर्य-धर्मके जाननेवाले लोग बड़े भाईको पिताके सदृश समझते हैं। माता! यह भी बतला कि धर्मज्ञ, दृढव्रत, धर्मशील, महाभाग और सत्यपराक्रमी मेरे पिता राजा दशरथने अन्त समयमें मेरे लिये क्या कहा था; मैं उनका अन्तिम शुभ सन्देश सुनना चाहता हूँ।' उत्तरमें कैकेयीने कहा—

रामेति राजा विलपन् हा सीते लक्ष्मणेति च ।
स महात्मा परं लोकं गतो मतिमतां वरः ॥

इतीमां पश्चिमां वाचं व्याजहार पिता तव ।
कालधर्मं परिक्षिप्तः पाशैरिव महागजः ॥
सिद्धार्थास्तु नरा राममागतं सह सीतया ।
लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥
(वा० रा० २ । ७२ । ३६–३८)

'बेटा ! बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तेरे पिता अन्तकालमें 'हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा सीते !' पुकारते हुए परलोक सिधारे हैं । हाथी जिस प्रकार पाशमें बँधकर विवश हो जाता है, उसी प्रकार काल-पाशसे बँधकर तेरे पिताने केवल यही कहा था कि, 'अहो ! सीताके साथ लौटकर आये हुए श्रीराम-लक्ष्मणको जो मनुष्य देखेंगे, वही कृतार्थ होंगे ।'

यह सुनते ही भरतजीके दुःखकी सीमा न रही ।

तामाह भरतो हेऽम्ब रामः सन्निहितो न किम् ।
तदानीं लक्ष्मणो वापि सीता वा कुत्र ते गताः ॥
(अध्यात्मरा० २ । ७ । ७१)

भरतजीने पूछा—'माता ! क्या उस समय श्रीरामजी, लक्ष्मण या सीताजीमेंसे कोई भी नहीं था, वे सब कहाँ चले गये थे ?'

अब वज्रहृदया कैकेयीने सारी कहानी सुनाते हुए कहा कि—

रामस्य यौवराज्यार्थं पित्रा ते सम्भ्रमः कृतः ।
तव राज्यप्रदानाय तदाहं विघ्नमाचरम् ॥
राज्ञा दत्तं हि मे पूर्वं वरदेन वरद्वयम् ।
याचितं तदिदानीं मे तयोरेकेन तेऽखिलम् ॥

राज्यं रामस्य चैकेन वनवासो मुनिव्रतम् ।
ततः सत्यपरो राजा राज्यं दत्त्वा तवैव हि ॥
रामं सम्प्रेषयामास वनमेव पिता तव ।
सीताप्यनुगता रामं पातिव्रत्यमुपाश्रिता ॥
सौभ्रात्रं दर्शयन् राममनुयातोऽपि लक्ष्मणः ।
वनं गतेषु सर्वेषु राजा तानेव चिन्तयन् ॥
प्रलपन् रामरामेति ममार नृपसत्तमः ।
(अध्यात्मरा० २ । ७ । ७२–७७)

'तुम्हारे पिताने रामके राज्याभिषेककी बड़ी तैयारी की थी, परंतु तब तुम्हें राज्य दिलानेके अभिप्रायसे मैंने उसमें विघ्न डाल दिया । वरदानी राजाने पूर्वमें मुझे दो वर देनेको कह रक्खा था, उनमेंसे एकसे मैंने तुम्हारे लिये सम्पूर्ण राज्य और दूसरेसे रामके लिये मुनिव्रतधारणपूर्वक चौदह सालका वनवास माँगा । तब तुम्हारे पिता सत्यपरायण राजाने तुम्हें राज्य दे दिया और रामको वन भेज दिया । पतिव्रता सीता भी रामके साथ वन चली गयी और सच्चा भ्रातृत्व दिखाकर लक्ष्मण भी उन्हींके पीछे चल दिये । उन लोगोंके वन जानेपर उन्हींका चिन्तन करते हुए और 'हा राम, हा राम' पुकारते हुए महाराजा भी परलोक सिधार गये ।'

कैकेयीके इन वचनोंसे मानो भरतजीपर वज्रपात हो गया । वे पिताकी मृत्युको तो भूल गये और अपने हेतुसे श्रीरामका वनगमन सुनते ही सहम गये, पके हुए घावपर मानो आग-सी लग गयी ।

भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु॥

सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।
पाकें छत जनु लाग अँगारू॥

भरतजी व्याकुल हो उठे और दारुण शोकमें सारी सुध-बुध भूलकर माताको धिक्कारकर चिल्लाते हुए कहने लगे—

'अरी क्रूरे! तू राज्य चाहनेवाली माताके रूपमे मेरी शत्रु है, तू पतिघातिनी और कुलघातिनी है, तू धर्मात्मा अश्वपतिकी कन्या नहीं है, उनके कुलका नाश करनेवाली राक्षसी पैदा हुई है। तू जानती नहीं कि श्रीरामके प्रति मेरा कैसा भाव है, इसीसे तूने यह अन्याय किया है। मैं राम-लक्ष्मणको छोड़कर किसके बलपर राज्य करूँगा? तूने मेरे धर्मात्मा पिताका नाश कर दिया और मेरे भाइयोंको गली-गली भीख माँगनेके लिये भेजा है, एक-पुत्रा कौसल्याको पुत्रवियोगका दुःख दिया है, जा तू नरकमें पड़। तू राज्यसे भ्रष्ट हो जा। अरी दुष्टे! तू धर्मसे पतित है, भगवान् करें मैं मर जाऊँ और तू मेरे लिये रोया करे! मैं इस समस्त राज्यको भाईके प्रति अर्पण कर दूँगा, जा तू अग्निमें प्रवेश कर जा, जंगलमें निकल जा या गलेमें रस्सीकी फाँसी लगाकर मर जा। मैं सत्यपराक्रम रामको राज्य देकर ही अपना कलङ्क धोऊँगा और अपनेको कृतकृत्य समझूँगा।'

(वा॰ रा॰ २। ७४)

भरतजीने राम-प्रेममें नीति भूलकर शत्रुघ्नसे यहाँतक कह डाला कि—

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम् ।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम् ॥

(वा० रा० २ । ७८ । २२)

'हे भाई ! इस दुष्ट आचरणवाली पापिनी कैकेयीको मैं मार डालता, यदि धर्मात्मा श्रीराम मातृहत्यारा समझकर मुझसे घृणा न करते ।'

आखिर भरतजीने माताका मुँह देखनातक पाप समझा और बोले कि—

जो हसि सो हसि मुहँ मसि लाई ।
आँखि ओट उठि बैठहि जाई ॥

× × ×

इतनेमें कुबड़ी मन्थरा इनाम पानेकी आशासे सज-धजकर आयी । उसे देखते ही शत्रुघ्नजीका क्रोध बढ़ा, वे लगे उसे इनाम देने, परंतु दयालु भरतजीने छुड़ा दिया । इसके बाद भरतजी माता कौसल्याके पास पहुँचे और उनकी दयनीय दशा देखकर व्याकुल हो उठे । कौसल्याजीने भी कैकेयीपुत्रके नाते भरतपर सन्देह करके कुछ कटु शब्द कहे । कौसल्याजीके कटु वचनोंसे भरतका हृदय विदीर्ण हो गया और वह मूर्छित होकर उनके चरणोंमें गिर पड़े, जब होशमें आये, तब ऐसी-ऐसी कठोर शपथें खाने लगे, जिनसे माताका हृदय पसीज गया । भरतने कहा—

कैकेय्या यत्कृतं कर्म रामराज्याभिषेचने।
अन्यद्वा यदि जानामि सा मया नोदिता यदि॥
पापं मेऽस्तु तदा मातर्ब्रह्महत्याशतोद्भवम्।
हत्वा वसिष्ठं खड्गेन अरुन्धत्या समन्वितम्॥

(अध्यात्मरा० २।७।८८-८९)

'माता! श्रीरामके राज्याभिषेकके विषयमें तथा वनगमनके विषयमें कैकेयीने जो कुकर्म किया है, उसमें यदि मेरी सम्मति हो या मैं उसे जानता भी होऊँ तो मुझे सौ ब्रह्महत्याका पाप लगे और वह पाप भी लगे, जो गुरु वशिष्ठजीकी अरुन्धतीजीसहित तलवारसे हत्या करनेमें लगता है।'

कौसल्याने गद्गद होकर निर्दोष भरतको गोदमें बिठा लिया और उसके आँसू पोंछकर कहने लगी—बेटा! मैंने शोकमें विकल होकर तुझपर आक्षेप कर दिया था। मैं जानती हूँ—

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे।
तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥
बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी।
होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू।
तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं।
सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥

अस कहि मातु भरतु हियँ लाए।
थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥

भरतजीके रामप्रेमका पता कौसल्याके इन वचनोंसे खूब लगता है। भरतका चरित्रबल और चिरआचरित भ्रातृ-प्रेम ही था, जिसने इस अवस्थामें भी कौसल्याके द्वारा भरतको भ्रातृ-प्रेमका ऐसा जोरदार सर्टिफिकेट दिलवा दिया।

× × ×

पिताकी शास्त्रोक्त और्ध्वदैहिक क्रिया करनेके बाद राज-सभामें गुरु, मन्त्री, प्रजा और माताओंने यहाँतक कि माता कौसल्याने भी भरतको राजसिंहासन स्वीकार करनेके लिये अनुरोध किया, परंतु भरत किसी प्रकार भी राजी नहीं हुए। उन्होंने अटलरूपसे कह दिया—

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥
आन उपाउ मोहि नहिं सूझा।
को जिय कै रघुबर बिनु बूझा॥
एकहिं आँक इहइ मन माहीं।
प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी।
भै मोहि कारन सकल उपाधी॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी।
छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥

सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ।
कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।
मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥

भरतके प्रेमभरे वचन सुनकर सभी मुग्ध हो गये। रामदर्शनके लिये वनगमनका निश्चय हुआ। सभी चलनेको तैयार हो गये। रामदर्शन छोड़कर घरमें कौन रहता ?

जेहि राखहिं रहु घर रखवारी।
सो जानइ जनु गरदनि मारी॥
कोउ कह रहन कहिअ नहिं काहू।
को न चहइ जग जीवन लाहू॥
जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

भरतजीने भगवान् रामकी सम्पत्तिकी रक्षा करना कर्तव्य समझकर जिम्मेवार कर्तव्यपरायण रक्षकोंको नियुक्त कर दिया और अयोध्यावासी नर-नारी चल पड़े। उस समय भरतके साथ नौ हजार हाथी, साठ हजार धनुर्धारी, एक लाख घुड़सवार थे। इसके सिवा रथों, माताओं और ब्राह्मणियोंकी पालकियों एवं सदाचारी ब्राह्मणोंकी तथा कारीगरों एवं सामानकी बैलगाड़ियोंकी गिनती ही नहीं थी।

भरतजीने वन जाते हुए मनमें सोचा—'श्रीराम, सीता और लक्ष्मण पैदल ही नंगे पाँव वन-वन घूमते हैं और मैं सवारी-

पर चढ़कर उनसे मिलने जा रहा हूँ, मुझे धिक्कार है।' यह विचारकर भरत और शत्रुघ्न पैदल हो लिये। दोनों भ्रातृभक्त भाइयोंको पैदल चलते देखकर अन्य लोग भी मुग्ध होकर सवारियोंसे उतरकर पैदल चलने लगे—

देखि सनेहु लोग अनुरागे।
उतरि चले हय गय रथ त्यागे॥

यह देखकर माता कौसल्याने अपनी डोली भरतके पास ले जाकर मधुर वचनोंमें कहा—

तात चढ़हु रथ बलि महतारी।
होइहि प्रिय परिवारु दुखारी॥
तुम्हरें चलत चलिहि सबु लोगू।
सकल सोक कृस नहिं मग जोगू॥

माता कौसल्याकी आज्ञा मानकर भरतजी रथपर चढ़ गये। चलते-चलते शृङ्गेरपुर पहुँचे। यहाँ निषादराजने भी भरतपर सन्देह किया, परंतु परीक्षा करके भरतका आचरण देख वह मन्त्रमुग्धकी भाँति भरतकी सेवामें लग गया। इङ्गुदीके पेड़के नीचे जहाँ श्रीरामने 'कुश-किसलय' की शय्यापर लेटकर रात वितायी थी, गुहके द्वारा उस स्थानको देखकर भरतकी विचित्र दशा हो गयी! वे भाँति-भाँतिसे विलाप कर कहने लगे, 'हा! यह बिखरी हुई पत्तोंकी शय्या क्या उन्हीं श्रीरामकी है, जो सदा आकाशस्पर्शी राजप्रासादमें रहनेके अभ्यासी हैं। जिनके महल सदा पुष्पों, चित्रों और चन्दनसे चर्चित रहते हैं,

जिनके महलका ऊँचा चूड़ा नृत्य करनेवाले पक्षियों और मयूरोंका विहारस्थल है, जिसकी सोनेकी दीवारोंपर विचित्र चित्रकारी-का काम किया हुआ है, वही स्वामी राम क्या इसी इङ्गुदी पेड़के नीचे रहे हैं? हा! इस अनर्थका कारण मैं ही हूँ—

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत्सभार्यः कृते मम।
ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत्॥
सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकसुखावहः।
सर्वप्रियकरस्त्यक्त्वा राज्यं प्रियमनुत्तमम्॥
कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः।
सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः॥

(वा० रा० २। ८८। १७—१९)

'हाय! मैं कितना क्रूर हूँ, हा! मैं मारा गया; क्योंकि मेरे ही कारण श्रीरघुनाथजीको सती सीताजीके साथ ऐसी कठिन शय्यापर अनाथकी भाँति सोना पड़ा। अहो! चक्रवर्तीकुलमें उत्पन्न हुए, सबको सुख देनेवाले, सबका प्रिय करनेवाले, कमनीय कान्ति, नील कमलके समान कान्तिवाले, रक्ताक्ष, प्रियदर्शन जो सदा ही सुख भोगनेके योग्य तथा इस दुःख-भोगके अयोग्य हैं, वे राघव अति उत्तम प्रिय राज्यको त्यागकर भूमिपर कैसे सोये!'

तदनन्तर भरतजीने उस कुश-शय्याकी प्रणाम-प्रदक्षिणा की—

कुस साँथरी निहारि सुहाई।
कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई॥

चरन रेख रज आँखिन्ह लाई ।
बनइ न कहत प्रीति अधिकाई ॥
कनक बिंदु दुइ चारिक देखे ।
राखे सीस सीय सम लेखे ॥

यहाँसे भरतजी फिर पैदल चलने लगे, जब सेवकोंने घोड़ेपर सवार होनेके लिये विशेष आग्रह किया, तब आप कहने लगे—

रामु पयादेहि पाँय सिधाए ।
हम कहँ रथ गज बाजि बनाए ॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा ।
सब तें सेवक धरमु कठोरा ॥

भाई ! मुझे तो सिरके बल चलना चाहिये, क्योंकि जहाँ रामके चरण टिके हैं, वहाँ मेरा सिर ही टिकना योग्य है । सीताराम, सीता-रामका कीर्तन करते हुए भरतजी प्रयाग पहुँचे । उनके पैरोंके छाले कमलके पत्तोंपर ओसकी बूँदोंके समान चमकते हैं—

झलका झलकत पायन्ह कैसें ।
पंकज कोस ओस कन जैसें ॥

तदनन्तर महाराज भरतजी मुनि भरद्वाजके आश्रममें पहुँचे । परस्पर शिष्टाचारके उपरान्त भरद्वाजजीने भी भरतके हृदयपर मानो गहरा आघात करते हुए उनसे पूछा—

कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि ।
अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च ॥

(वा० रा० २ । ९० । १३)

'क्या तुम उन पापहीन श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मणका वध-कर निष्कण्टक राज्य भोगनेकी इच्छासे तो वनमें नहीं जा रहे हो ?' भरद्वाजजीके इन वचनोंसे भरतजीका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो गया । वे कातर कण्ठसे रोते हुए बोले—

हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते ।

(वा० रा० २ । ९० । १५)

'भगवन् ! यदि त्रिकालदर्शी होकर आप भी ऐसा ही मानते हैं तब तो मैं मारा गया ।'

कैकेय्या यत्कृतं कर्म रामराज्यविघातनम् ॥
वनवासादिकं वापि न हि जानामि किंचन ।
भवत्पादयुगं मेऽद्य प्रमाणं मुनिसत्तम ॥
इत्युक्त्वा पादयुगलं मुनेः स्पृष्ट्वार्तमानसः ।
ज्ञातुमर्हसि मां देव शुद्धो वाशुद्ध एव वा ॥
मम राज्येन किं स्वामिन् रामे तिष्ठति राजनि ।
किङ्करोऽहं मुनिश्रेष्ठ रामचन्द्रस्य शाश्वतः ॥

(अध्यात्मरा० २ । ८ । ४६—४९)

'हे मुनिश्रेष्ठ ! कैकेयीने श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकमें विघ्न डालनेके लिये जो कुछ किया या राम-वनवासादिके सम्बन्धमें जो कुछ हुआ, इस विषयमें मैं कुछ भी नहीं जानता, इस

सम्बन्धमें आपके चरणयुगल ही मेरे लिये प्रमाण हैं।' इतना कह मुनिके दोनों चरणोंको पकड़कर भरतजी कहने लगे—'हे देव ! मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध, इस बातको आप भलीभाँति जान सकते हैं। हे स्वामिन् ! श्रीरामजीके राजा रहते मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है, मैं तो सदा-सर्वदा श्रीरामका एक किङ्कर हूँ।'

इसपर भरद्वाजजीने प्रसन्न होकर कहा—'मैं तुम्हारी सब बातें जानता था, मैंने तो तुम्हारे भाव दृढ़ करने और तुम्हारी कीर्ति बढ़ानेके लिये ही तुमसे ऐसा पूछ लिया था। वास्तवमें तुम्हारे समान बड़भागी दूसरा कौन है, जिसका जीवन-धन-प्राण श्रीरामके चरणकमल हैं—

सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना।
भूरिभाग को तुम्हहि समाना॥
सुनहु भरत रघुबर मन माहीं।
पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं॥
लखन राम सीतहि अति प्रीती।
निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥

मैं जानता हूँ तुम राम, सीता, लक्ष्मणको अत्यन्त प्यारे हो, वे जब यहाँ ठहरे थे तब रातभर तुम्हारी ही प्रशंसा कर रहे थे। तुम तो भरत ! मानो श्रीराम-प्रेमके शरीरधारी अवतार हो।

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

हे भरत ! सुनो, हम तपस्वी उदासी वनवासी हैं, तुम्हारी खातिरसे झूठ नहीं बोलते, हमारी समझसे तो हमारी समस्त

साधनाओंके फलस्वरूप हमें श्रीराम-सीता और लक्ष्मणके दर्शन मिले थे और अब श्रीरामदर्शनके फलस्वरूप तुम्हारे दर्शन हुए हैं, सारे प्रयागनिवासियोंसहित हमारा बड़ा सौभाग्य है—

भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ।
कहि अस पेम मगन मुनि मयऊ॥

इसके अनन्तर भरद्वाज मुनिने सिद्धियोंके द्वारा परम सम्मान्य अतिथि भरतजीका आतिथ्य-सत्कार किया, सभी प्रकारकी विलास-सामग्री उत्पन्न हो गयी। सब लोग अपने-अपने इच्छानुसार खान-पान और भोगादिमें लग गये, परंतु भरतजीको रामके बिना कहीं चैन नहीं है, वे किसी भी प्रलोभनमें नहीं आ सकते।

संपति चकई भरतु चक मुनि आयस खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजराँ राखे भा भिनुसार॥

'भरद्वाजजीकी सिद्धियोंद्वारा उत्पन्न सम्पत्ति मानो चकई है और भरतजी चकवा हैं, मुनिकी आज्ञा बहेलिया है, जिसने रात-भर भरतजीको आश्रमरूपी पिंजरेमें बंद कर रक्खा और इसी प्रकार सवेरा हो गया।' चकई-चकवा रातको नहीं मिल सकते। इसी तरह विलास-सामग्री और भरतजीका (आश्रमरूपी पिंजरेमें) एक साथ रहनेपर भी मिलाप नहीं हुआ! धन्य त्यागपूर्ण भ्रातृ-प्रेम!

× × ×

रास्ता बतानेके लिये निषादको आगे करके महाराज भरतजी चित्रकूटकी ओर जा रहे हैं, मानो साक्षात् अनुराग ही शरीर

धारण करके चल रहा हो। यहाँपर गोसाईंजीने बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। भरतजीके न तो पैरोंमें जूते हैं और न सिरपर छत्र हैं। वे निष्कपटभावसे प्रेमपूर्वक नियम-व्रत करते हुए जा रहे हैं। भरतजी जिस मार्गसे निकलते हैं, उसीमें मानो प्रेमका समुद्र उमड़ पड़ता है और वहाँका वातावरण इतना विशुद्ध हो जाता है कि वहाँके जड-चेतन जीव भरतके भवरोग-नाशक दर्शन पाकर परमपदको प्राप्त हो जाते हैं। जिन रामजीका एक बार भी नाम लेनेवाला मनुष्य स्वयं तरता और दूसरोंको तारनेवाला बन जाता है, वे श्रीराम स्वयं जिन भरतजीका मनमें सदा चिन्तन किया करते हैं, उनके दर्शनसे लोगोंका बन्धन-मुक्त हो जाना कौन बड़ी बात है ?

भरतजीके दर्शनसे भ्रातृ-प्रेमके भाव चारों ओर फैल रहे हैं, जब महाराज भरतजी श्रीराम कहकर साँस लेते हैं, तब मानो चारों ओर प्रेम उमड़ पड़ता है, उनके प्रेमपूर्ण वचन सुनकर वज्र और पत्थर-जैसे हृदयवाले भी पिघल जाते हैं, फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है !

जबहिं रामु कहि लेहिं उसासा।
उमगत पेमु मनहुँ चहु पासा॥
द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना।
पुरजन पेमु न जाइ बखाना॥

मार्गके नर-नारी भरतजीको पैदल चलते देख-देखकर नेत्रोंको सफल करते हैं और भाँति-भाँतिकी चर्चा करते हैं। वनकी नारियाँ भरतजीके शील, प्रेम और भाग्यकी सराहना करती हुई कहती हैं—

चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु ।
जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आजु ॥
भायप भगति भरत आचरनू । कहत सुनत दुख दूषन हरनू ॥

'अहो ! पिताके दिये हुए राज्यको छोड़कर आज भरत फल-मूल खाते हुए पैदल ही श्रीरामको मनाने जा रहे हैं, इनके समान भाग्यवान् दूसरा कौन होगा ? भरतजीके भाईपन, भक्ति और आचरणोंका गुण गाने और सुननेसे दुःख और पाप नाश हो जाते हैं ।'

भरतका ऐसा प्रभाव पड़ना ही चाहिये था !

भरतजीसहित सबको शुभ शकुन होने लगे, जिससे प्रेम और भी बढ़ा, प्रेमकी विह्वलतासे पैर उलटे-सीधे पड़ रहे हैं, इतनेमें रामसखा निषादराजने शैलशिरोमणि चित्रकूटको दूरसे दिखलाया । अहा ! इसी पुण्यवान् पर्वतपर मेरे स्वामी रघुनाथजी रहते हैं, यह सोचकर भरतजी प्रणाम करने लगे और सियावर रामचन्द्रजीकी जय-ध्वनि करने लगे । उस समय भरतको जैसा प्रेम था, उसका वर्णन शेषजी भी नहीं कर सकते । कविके लिये तो यह उतना ही कठिन है, जितना अहंता-ममतावाले मलिन मनुष्यके लिये ब्रह्मानन्द !

भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेषु ।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुखु अह मम मलिन जनेषु ॥

भरतजीने सारे समुदायसहित मन्दाकिनीमें स्नान किया और सब लोगोंको वहीं छोड़कर वे केवल शत्रुघ्न और गुहको

साथ लेकर आगे चले। यहाँपर भरतजीके मनकी दशाका चित्रण श्रीगोस्वामीजीने बहुत ही सुन्दर किया है—

समुझि मातु करतब सकुचाहीं।
करत कुतरक कोटि मन माहीं॥
रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ।
उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥
मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर॥
जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी। जौं सनमानहिं सेवकु मानी॥
मोरें सरन रामहि की पनही। राम सुस्वामि दोसु सब जनही॥

धन्य! भरतजी जानते हैं कि मैं निर्दोष हूँ, परंतु जब अयोध्याके दूत, सब नगर-निवासी, माता कौसल्या, निषाद और त्रिकालदर्शी भरद्वाजजीतकने एक-एक वार सन्देह किया, तब यहाँ भी लक्ष्मण-सीता मुझपर सन्देह न करेंगे या श्रीराम ही मुझे मन-मलिन समझकर न त्याग देंगे, इसका क्या भरोसा है? यह कौन मान सकता है कि माताके मतके साथ मेरा मत नहीं था। जो कुछ हो, राम चाहे त्याग दें, परंतु मैं तो उन्हींकी जूतियोंकी शरण पड़ा रहूँगा। माताके नाते मैं तो दोषी हूँ ही; पर श्रीराम सुस्वामी हैं, वे अवश्य कृपा करेंगे।

फिर जब माताकी करतूत याद आ जाती है, तब पैर पीछे पड़ने लग जाते हैं, अपनी भक्तिकी ओर देखकर कुछ आगे बढ़ते हैं और जब श्रीरघुनाथजीके स्वभावकी ओर वृत्ति जाती है, तब मार्गमें जल्दी-जल्दी पाँव पडते हैं। इस समय भरतजीकी दशा

वैसी ही है जैसे जलके प्रवाहमें भँवरेकी होती है, जो कभी पीछे हटता है, कभी चक्कर खाता है और कभी फिर आगे बढ़ने लगता है। भरतके इस प्रेमको देखकर निषादराज भी तन-मनकी सुध भूल गया।

फेरति मनहु मातु कृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी। जल प्रबाहँ जल अलि गति जैसी॥
देखि भरत कर सोचु सनेहू। भा निषाद तेहि समयँ बिदेहू॥

भरत-शत्रुघ्न प्रेममें विह्वल हुए चले जा रहे हैं—

स तत्र वज्राङ्कुशवारिजाञ्चितध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः।
ददर्श रामस्य भुवोऽतिमङ्गलान्यचेष्टयत्पादरजःसु सानुजः॥
अहो सुधन्योऽहममूनि रामपादारविन्दाङ्कितभूतलानि।
पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम्॥

(अध्यात्मरा० २। ९। २-३)

'जहाँ श्रीरामके वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमल आदि चिह्नोंसे अङ्कित शुभ चरण-चिह्न देखते हैं, वहीं दोनों भाई उस चरण-रजमें लोटने लगते हैं और कहते हैं, कि अहो! हम धन्य हैं जो श्रीराम-के उन चरणोंसे चिह्नित भूमिका दर्शन कर रहे हैं, जिन चरणोंकी रज ब्रह्मादि देवता और वेद सदा खोजते रहते हैं।'

भरतकी इस अवस्थाको देखकर पशु-पक्षी और वृक्ष भी मुग्ध हो गये। पशु-पक्षी जड़-पाषाणकी भाँति एकटकी लगाकर भरतकी ओर देखने लगे और वृक्षादि द्रवित होकर हिलने-डोलने लगे—

होत न भूतल भाउ भरत को । अचर सचर चर अचर करत को ॥

भरत-शत्रुघ्नकी यह दशा देख निषादराज प्रेममें तन्मय होकर रास्ता भूल गया । दो पागलोंमें तीसरा भी पागल होनेसे कैसे बचता ? तीनों ही मतवाले हो गये । देवताओंने फूल बरसाकर निषादको सावधान करते हुए रास्ता बताया । बलिहारी प्रेमकी ।

× × × ×

इधर लक्ष्मणजीको सन्देह हुआ, उन्होंने समझा कि भरत बुरी नीयतसे आ रहे हैं, अतः वे नीतिको भूलकर कहने लगे, आज मैं उन्हें भलीभाँति शिक्षा दूँगा—

राम निरादर कर फलु पाई । सोवहुँ समर सेज दोउ भाई ॥

श्रीरामने लक्ष्मणजीकी नीयतकी प्रशंसा कर उन्हें भरतका महत्त्व समझाया, लक्ष्मणजीका चित्त शान्त हो गया ।

भरतका जीवन बड़ा ही मार्मिक है । सर्वदा साधु और निर्दोष होते हुए भी सबके सन्देहका शिकार बनना पड़ता है । भरतके सदृश सर्वथा राज्य-लिप्सा-शून्य धर्मात्मा त्यागी महापुरुषपर इस प्रकारके सन्देहका इतिहास जगत्में कहीं नहीं मिलता । इतनेपर भी भरत सब सहते हैं, ऊबकर आत्महत्या नहीं कर लेते । शान्ति, प्रेम और सहिष्णुतासे अपनी निर्दोषताका डंका बजाकर जगत्पूज्य बन जाते हैं ।

कुछ ही समय बाद श्रीभरतजी वहाँ आ पहुँचे और दूरसे ही व्रतोपवासोंके कारण कृश हुए श्रीरामको तृणके आसनपर बैठे देखकर फूट-फूटकर रोते हुए यों कहने लगे—

यः संसदि प्रकृतिभिर्भवेद्युक्त उपासितुम् ।
वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥
वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो महात्मा पुरोचितः ।
मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन् ॥
आधारयद्यो विविधाश्चित्राः सुमनसः सदा ।
सोऽयं जटाभारमिमं सहते राघवः कथम् ॥
यस्य यज्ञैर्यथादिष्टैर्युक्तो धर्मस्य सञ्चयः ।
शरीरक्लेशसम्भूतं स धर्मं परिमार्गते ॥
चन्दनेन महार्हेण यस्याङ्गमुपसेवितम् ।
मलेन तस्याङ्गमिदं कथमार्यस्य सेव्यते ॥
मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः
धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम् ॥

(वा० रा० २ । ९९ । ३१–३६)

'मेरे बड़े भाई राम, जो राजदरबारमें प्रजा और मन्त्रियोंद्वारा उपासित होने योग्य हैं, वे आज इन जंगली पशुओंसे उपासित हो रहे हैं। जो महात्मा अयोध्याजीमें उत्तमोत्तम बहुमूल्य वस्त्रोंको धारण करते थे, वे आज धर्माचरणके लिये इस निर्जन वनमें केवल मृग-छाला धारण किये हुए हैं। जो श्रीरघुनाथजी एक दिन अपने मस्तकपर अनेक प्रकारकी सुगन्धित पुष्पमालाएँ धारण करते थे, आज वे इस जटाभारको कैसे सह रहे हैं ? जो ऋत्विजोंद्वारा विधिपूर्वक यज्ञ कराते थे, वे आज शरीरको अत्यन्त क्लेश देते हुए धर्मका सेवन कर रहे हैं। जिनके शरीरपर सदा चन्दन लगाया

जाता था, आज उनके शरीरपर मैल जमी हुई है। हाय! निरन्तर सुख भोगनेवाले इन मेरे बड़े भाई श्रीरामजीको आज मेरे लिये ही इतना असह्य कष्ट सहन करना पड़ रहा है, मुझ क्रूरके इस लोक-निन्दित जीवनको धिक्कार है।' यों विलाप करते और आँसुओंकी अजस्र धारा बहाते हुए भरतजी श्रीरामके समीप जा पहुँचे, परन्तु अत्यन्त दुःखके कारण उनके चरणोंतक नहीं पहुँच पाये। बीचहीमें 'हा आर्य, पुकारकर दीनकी भाँति गिर पड़े। शोकसे गला रुक गया। वे कुछ बात नहीं कह सके।

श्रीरामने विवर्ण और दुर्बल भरतको बहुत ही कठिनतासे पहचाना और बड़े आदरके साथ जमीनसे उठाकर उनका सिर सूँघ गोदमें बैठाकर कहा—'भाई! तुम्हारा यह वेष क्यों? तुम राज्य त्यागकर वनमें कैसे आये?' इसपर भरतजीने पिताकी मृत्युका संवाद सुनाया और कहा कि 'मेरी माँ कैकेयी विधवा होकर निन्दाके घोर नरकमें पड़ी है।'

पिताका मरणसंवाद सुनते ही श्रीरामकी आँखोंमें आँसू भर आये। माताओं और गुरु वशिष्ठादि ब्राह्मणोंको प्रणामकर तथा सबसे मिलकर श्रीरामने मन्दाकिनीपर जाकर स्नान किया, तर्पण-कर पिण्डदान दिये। उस दिन सबने उपवास किया। दूसरे दिन सब लोग एकत्र हुए, तब भरतजीने राज्याभिषेकके लिये श्रीरामसे प्रार्थना की और कहा कि—

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥
(वा० रा० २। १०१। १२)

'इन सब सचिवोंके साथ मैं सिरसे प्रणाम करके याचना करता हूँ, आप मुझ भाई, शिष्य और दासके ऊपर कृपा करनेके योग्य हैं।'

राज्यं पालय पित्र्यं ते ज्येष्ठस्त्वं मे पिता तथा।
क्षत्रियाणामयं धर्मो यत्प्रजापरिपालनम्॥
इष्ट्वा यज्ञैर्बहुविधैः पुत्रानुत्पाद्य तन्तवे।
राज्ये पुत्रं समारोप्य गमिष्यसि ततो वनम्॥
इदानीं वनवासस्य कालो नैव प्रसीद मे।
मातुर्मे दुष्कृतं किञ्चित् स्मर्तुं नार्हसि पाहि नः॥

(अध्यात्मरा० २। ९। २३-२५)

'क्योंकि आप सबमें बड़े हैं, मेरे पिताजीके समान है, अतः आप राज्यका पालन कीजिये। प्रजापालन ही क्षत्रियोंका धर्म है। अनेक प्रकार यज्ञ करके एवं कुलवृद्धिके लिये पुत्र उत्पन्न करके पुत्रको राज्यसिंहासनपर बैठानेके बाद आप वनमें पधारियेगा, यह वनवासका समय नहीं है। मुझपर कृपा कीजिये, मेरी मातासे जो कुकर्म बन गया है, उसे भूलकर मेरी रक्षा कीजिये।'

इतना कहकर भरतजी दण्डकी तरह श्रीरामके चरणोंमें गिर पड़े। श्रीरामने स्नेहसे उठाकर गोदमें बैठाया और आँखोंमें आँसू भरकर धीरेसे श्रीभरतजीसे बोले—'भाई! पिताजीने तुम्हे राज्य दिया है और मुझे वन भेजा है—

अतः पितुर्वचः कार्यमावाभ्यामतियत्नतः॥
पितुर्वचनमुल्लङ्घ्य स्वतन्त्रो यस्तु वर्तते।
स जीवन्नेव मृतको देहान्ते निरयं व्रजेत्॥

(अध्यात्मरा० २। ९। ३१-३२)

'अतएव हम दोनोंको यत्नपूर्वक पिताके वचनानुसार कार्य करना चाहिये। जो पिताके वचनोंकी अवहेलना कर स्वतन्त्रतासे वर्तता है, वह जीता ही मरेके समान है और मृत्युके बाद नरक-गामी होता है। इसलिये तुम अयोध्याका राज्य करो।' भरतने कहा—'पिताजी कामुकतासे स्त्रीके वश हो रहे थे, उनका चित्त स्थिर नहीं था, वे उन्मत्त-से थे, उन्मत्त पिताके वचनको सत्य नहीं मानना चाहिये।' इसपर श्रीरामजीने कहा—'प्रिय भाई! ऐसी बात मुखसे नहीं कहनी चाहिये, पिताजी न तो स्त्रीके वशमें थे, न कामुक थे और न मूर्ख थे, वे बड़े ही सत्यवादी थे और अपने पहलेके वचनोंको सत्य करनेके लिये ही उन्होंने ऐसा किया। हम रघुवंशी उनके वचनोंको कैसे असत्य कर सकते हैं।' भरतजी-ने कहा—'यदि ऐसा ही है तो मैं भी आपके साथ वनमें रहकर लक्ष्मणकी भाँति आपकी सेवा करूँगा; यदि आप मेरी इस बातको भी स्वीकार न करेंगे तो मैं अनशनव्रत लेकर शरीर-त्याग कर दूँगा।' श्रीरामने उनको उलाहना देकर समझाया, परंतु जब किसी प्रकार भी भरत नहीं माने, तब श्रीरामने वशिष्ठजीको इशारा किया।

एकान्ते भरतं प्राह वशिष्ठो ज्ञानिनां वरः।
वत्स गुह्यं शृणुष्वेदं मम वाक्यं सुनिश्चितम्॥
रामो नारायणः साक्षाद् ब्रह्मणा याचितः पुरा।
रावणस्य वधार्थाय जातो दशरथात्मजः॥

योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी ।
शेषोऽपि लक्ष्मणो जातो राममन्वेति सर्वदा ॥
रावणं हन्तुकामास्ते गमिष्यन्ति न संशयः ।
तस्मात्त्यजाग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने ॥

(अध्यात्मरा० २ । ९ । ४२—४६)

श्रीरामका इशारा पाकर गुरु वशिष्ठजीने भरतको एकान्तमें ले जाकर कहा—'बेटा ! मैं तुमसे एक निश्चित गुप्त बात बतलाता हूँ । श्रीराम साक्षात् नारायण हैं, पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इनसे रावणवधार्थ प्रार्थना की थी, तदनुसार ये दशरथजीके यहाँ अवतीर्ण हुए हैं, जनकनन्दिनी सीताजी योगमाया हैं और लक्ष्मणजी शेषजीके अवतार हैं, जो सदा रामजीके पीछे-पीछे उनकी सेवामें लगे रहते हैं । श्रीराम रावणको मारनेके लिये वनमें अवश्य जायँगे; इसलिये तुम इन्हें लौटा ले जानेका हठ छोड़ दो ।'

श्रीरामका अपने प्रति असाधारण प्रेम, अपने सेवाधर्म और गुरुके इन गुह्य वचनोंपर खयालकर भरतजी वापस अयोध्या लौटनेको तैयार हो गये और श्रीरामकी चरणपादुकाओंको प्रणाम करके बोले कि—

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन ।
तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद्बहिः ॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राजतन्त्रं परन्तप ।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥

न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।
तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम् ॥
(वा० रा० २ । ११२ । २३–२६)

'हे आर्य रघुनन्दन ! मैं जटा-वल्कल धारण करूँगा, फल-मूल खाऊँगा, सारे राज-काजका भार आपकी चरण-पादुकाओंको सौंपकर आपकी राह देखता हुआ चौदह सालतक नगरके बाहर निवास करूँगा । हे परन्तप ! चौदह वर्षके पूर्ण होनेपर पंद्रहवें वर्षके पहले दिन यदि आपके दर्शन न होंगे तो अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा ।'

श्रीरामने भरतकी दृढ़ प्रतिज्ञा सुनकर अत्यन्त प्रेमसे उन्हें हृदयसे लगा लिया और ठीक अवधिपर अयोध्या लौटनेका वचन दिया । धर्मज्ञ भरतजीने श्रीरामजीके प्रति प्रणाम-प्रदक्षिणा करके स्वर्णजटित पादुकाओंको पहले मस्तकपर धारण किया और तदनन्तर उन्हें हाथीपर रखवाया । वनसे अयोध्या लौटकर नगरसे बाहर नन्दिग्राममें पहुँचकर कहा—

एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम् ।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते ॥
छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम ॥
भ्रात्रा तु मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम् ।
तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति ॥

क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम् ।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ ॥
ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः ।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम् ॥
राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके ।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम् ॥

(वा० रा० २ । ११५ । १४, १६—२०)

'अहो ! मेरे पूज्य भाईने यह राज्य मुझे धरोहररूप सौंपा है और इसके योगक्षेमके लिये ये स्वर्ण-पादुकाएँ दी है । ये पादुकाएँ भगवान्‌की प्रतिनिधि हैं, अतः इनपर छत्र धारण करो, मेरे गुरु श्रीरामकी इन्हीं पादुकाओंसे धर्मराज्यकी स्थापना होगी । मेरे भाईने प्रेमके कारण मुझे यह राज्यरूप धरोहर दी है, जबतक वे लौटकर नहीं आवेंगे, तबतक मैं इनकी रक्षा और सेवा करूँगा । मेरे ज्येष्ठ बन्धु श्रीरघुनाथजी जब सकुशल यहाँ पधारेंगे, तब इन दोनों पादुकाओंको उनके चरणोंमें पहनाकर आनन्दसे दर्शन करूँगा । पादुकाओंके साथ ही यह धरोहररूप राज्य उन्हें सौंपकर राज्यभारसे छूटकर मैं निरन्तर उनकी आज्ञामें रहता हुआ उनका भजन करूँगा । इस प्रकार दोनों पादुकाएँ, राज्य और अयोध्या उन्हें पुनः सौंपकर मैं कलङ्क-मुक्त हो जाऊँगा ।'

तदनन्तर पादुकाओंका अभिषेक किया गया, भरतजीने स्वयं छत्र-चामर धारण किये । भरतजी राज्यका समस्त शासनसम्बन्धी कार्य पादुकाओंसे पूछकर करते थे । जो कुछ भी कार्य होता था

या भेंट आती थी सो सबसे पहले पादुकाओंको निवेदन करते, पुनः उसका यथोचित प्रबन्ध करते और वह भी पादुकाओंको सुना देते थे। इस प्रकार पादुकाओंके अधीन होकर भरतजी नन्दिग्राममें नियमपूर्वक रहने लगे। उनकी 'रहनी-करनी' के सम्बन्धमें गोसाईं-जी लिखते हैं—

जटाजूट सिर मुनिपट धारी।
महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा।
करत कठिन रिषिधरम सप्रेमा॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी।
मन तन बचन तजे तिन तूरी॥
अवध राजु सुर राजु सिहाई।
दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई॥
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा।
चंचरीक जिमि चंपक बागा॥
रमा बिलासु राम अनुरागी।
तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

× × × ×

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई।
घटइ तेजु बलु मुखछबि सोई॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना।
बढ़त धरम दलु मनु न मलीना॥

जिमि जलु निघटत सरद प्रकासे ।
बिलसत बेतस बनज बिकासे ॥
सम दम संजम नियम उपासा ।
नखत भरत हिय बिमल अकासा ॥
ध्रुव बिस्वासु अवधि राका सी ।
स्वामि सुरति सुर बीथि बिकासी ॥
राम पेम बिधु अचल अदोषा ।
सहित समाज सोह नित चोखा ।
भरत रहनि समुझनि करतूती ।
भगति बिरति गुन बिमल बिभूती ॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं ।
सेस गनेस गिरा गमु नाहीं ॥
नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति ।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति ॥
पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू ।
जीह नामु जप लोचन नीरू ॥
लखन राम सीय कानन बसहीं ।
भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं ॥

भरतजीकी इस वैराग्य-त्यागमयी मञ्जुल मूर्तिका ध्यान और उनके आचरणोंका अनुकरण कर कृतार्थ हो जाइये ।

इस प्रसंगसे हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि छोटे भाईको बड़े भाईके साथ कैसा त्याग और विनयपूर्ण वर्ताव करना चाहिये ।

× × ×

रावण-वधके अनन्तर श्रीराम सीता, लक्ष्मण, मित्रों और सेवकोंसहित पुष्पक-विमानपर सवार होकर अयोध्या जा रहे हैं । उधर भरतजी महाराज अवधिके दिन गिन रहे हैं । एक दिन शेष रहा है, भरतजीकी चिन्ताका पार नहीं है । वे सोचते हैं—

कारन कवन नाथ नहिं आयउ ।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी ।
राम पदारबिंदु अनुरागी ॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा ।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा ॥
जौं करनी समुझैं प्रभु मोरी ।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी ॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ ।
दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई ।
मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई ॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना ।
अधम कवन जग मोहि समाना ॥

'श्रीरघुनाथजी क्यों नहीं आये ? क्या मुझे कुटिल समझकर भुला दिया ? अहो ! धन्य है बड़भागी भैया लक्ष्मणको, जिसका रामके चरणकमलोंमें इतना अनुराग है । मुझे तो कपटी और कुटिल जानकर ही नाथने वनमें साथ नहीं रक्खा था (असलमें कैकेयी-पुत्रके लिये यह ठीक ही है) । मेरी करनी सोचनेसे तो सौ करोड़ कल्पोंतक भी उद्धार नहीं हो सकता; परन्तु भगवान्का स्वभाव बड़ा ही कोमल है, वे अपने जनोंका अवगुण नहीं देखते । मेरे मनमें भगवान्के इस विरदका दृढ़ भरोसा है, सगुन भी शुभ हो रहे हैं, इससे निश्चय होता है भगवान् कृपापूर्वक अवश्य दर्शन देंगे । परंतु यदि अवधि वीतनेपर भी ये अधम प्राण रहेंगे तो मेरे समान जगत्-में दूसरा नीच और कौन होगा ?'

भरतकी इस व्याकुल दशाको जानकर उधर '*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*' (गीता ४ । ११) की प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् भी व्याकुल हो गये, उन्होंने सन्देश देनेके लिये हनूमान्जीको भेज दिया । रामविरहके अथाह समुद्रमें भरतजीका मन डूब रहा था, इतनेहीमें ब्राह्मणका स्वरूप धारणकर श्रीहनूमान्-जी मानो उद्धार करनेके लिये जहाजरूप होकर आ गये । हनूमान्जी रामगतप्राण, रामपरायण भरतजीकी स्थिति देखकर मुग्ध हो गये, उनके रोमाञ्च हो आया और आँखोंसे आँसू बहने लगे । भरतकी कैसी स्थिति थी ?

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात ।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात ॥

हनूमान्‌ने भरतकी आँसू बहाती हुई नाम-जप-परायण ध्यानस्थ मूर्तिको देखकर परम सुखसे भरकर कानोंमें अमृत बरसानेवाली वाणीसे कहा—

जासु बिरहँ सोचहु दिन राती।
रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता।
आयउ कुसल देव मुनि त्राता॥
रिपु रन जीति सुजस सुर गावत।
सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥

यह वचन सुनते ही भरतजीके सारे दुःख मिट गये। प्यासेको अमृत मिल गया। प्राणहीनमें प्राण आ गये। भरतजी हर्षोन्मत्त होकर पूछने लगे—

को तुम्ह तात कहाँ ते आए।
मोहि परम प्रिय बचन सुनाए॥

हनूमान्‌जीने कहा कि—

मारुत सुत मैं कपि हनुमाना।
नामु मोर सुनु कृपानिधाना॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर × × ×॥

भरतजीने उठकर हनूमान्‌जीको हृदयसे लगा लिया—

सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥

प्रेम हृदयमें नहीं समाता है, नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बह रही है, शरीर पुलकित हो रहा है। भरतजी कहते हैं—

कपि तव दरस सकल दुख बीते।
मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
बार बार बूझी कुसलाता।
तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥
एहि संदेस सरिस जग माहीं।
करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही।
अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥

हनूमान्‌जीने चरण-वन्दनकर सारी कथा संक्षेपमें सुना दी। तदनन्तर भरतजीने फिर पूछा—

कहु कपि कबहुँ कृपाल गोसाईं।
सुमिरहिं मोहि दास की नाईं॥
निज दास ज्यों रघुबंसभूषन कबहुँ मम सुमिरन करयो।
सुनि भरत बचन बिनीत अति कपि पुलकि तन चरनन्हि परयो॥
रघुबीर निज मुख जासु गुन गन कहत अग जग नाथ जो।
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत सदगुन सिंधु सो॥

श्रीहनूमान्‌जीने गद्गद होकर कहा—

राम प्रान प्रिय नाथ तुम्ह सत्य बचन मम तात।
पुनि पुनि मिलत भरत सुनि हरष न हृदयँ समात॥

भरत और हनूमान् बार-बार गले लगाकर मिलते हैं। हर्षका पार नहीं है। हनूमान्‌जी वापस लौट गये, इधर सारे रनिवास

और नगरमें खबर भेजी गयी। सभी ओर हर्ष छा गया। सारा नगर सजाया गया!

भगवान्‌का विमान अयोध्यामें पहुँचा। भरतजी, शत्रुघ्नजी अगवानीके लिये सब मन्त्रियों और पुरवासियोंसहित सामने गये। विमान जमीनपर उतरा, भरतजी विमानमें जाकर श्रीरामके चरणोंमें लोट गये और आनन्दाश्रुओंसे उनके चरणोंको धोने लगे। श्रीरघुनाथजीने उन्हें उठाकर छातीसे लगा लिया। तदनन्तर भरतजी भाई लक्ष्मणजीसे मिले और उन्होंने माता सीताको प्रणाम किया। श्रीरामने भरतको गोदमें बैठाकर विमानको भरतके आश्रमकी ओर जानेकी आज्ञा दी। तदनन्तर नगरमें आकर सबसे मिले। श्रीरामने भरतकी जटा अपने हाथोंसे सुलझायी। फिर तीनों भाइयोंको नहलाया। इसके बाद स्वयं जटा सुलझाकर स्नान किया।

तदनन्तर भगवान् राजसिंहासनपर बैठे। तीनों भाई सेवामें लगे। समय-समयपर भरतजी अनेक सुन्दर प्रश्न करके रामसे विविध उपदेश प्राप्त करने लगे और अन्तमें श्रीरामके साथ ही परम धाम पधारे।

श्रीभरतजीका चरित्र विलक्षण और परम आदर्श है। उनका रामप्रेम अतुलनीय है, इसीसे कहा गया है कि—

भरत सरिस को राम सनेही।
जगु जप राम रामु जप जेही॥

वास्तवमें भरतजीका भ्रातृ-प्रेम जगत्‌के इतिहासमें एक ही है। इनका राज्य-त्याग, संयम, व्रत, नियम आदि सभी सराहनीय

और अनुकरणीय है । इनके चरित्रसे स्वार्थत्याग, विनय, सहिष्णुता, गम्भीरता, सरलता, क्षमा, विराग और प्रधानतः भ्रातृ-भक्तिकी बड़ी ही अनुपम शिक्षा लेनी चाहिये ।

श्रीलक्ष्मणका भ्रातृ-प्रेम

अहह धन्य लछिमन बड़भागी ।
राम पदारबिंदु अनुरागी ॥

राम-मेघके चातक लक्ष्मणजीकी महिमा अपार है । लक्ष्मणजीका अवतार श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनकी सेवा करनेके लिये ही हुआ था । इसीसे आज रामकी श्याममूर्तिके साथ लक्ष्मणकी गौर मूर्ति भी स्थापित होती है और रामके साथ लक्ष्मणका नाम लिया जाता है । राम-भरत या राम-शत्रुघ्न कोई नहीं कहता, परन्तु राम-लक्ष्मण सभी कहते हैं । श्रीलक्ष्मणजी धीर, वीर, तेजस्वी, ब्रह्मचर्यव्रती, इन्द्रियविजयी, पराक्रमी, सरल, सुन्दर, तितिक्षा-सम्पन्न, निर्भय, निष्कपट, त्यागी, बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, तपस्वी, सेवाधर्मी, नीतिके जाननेवाले, सत्यव्रती और रामगतप्राण थे । उनका सबसे मुख्य धर्म श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनका अनुसरण करना था । वे श्रीरामसेवामें अपने आपको भूल जाते थे । भरतजीका विनय और मधुरतायुक्त गम्भीर प्रेम जैसा अनोखा है, वैसे ही श्रीलक्ष्मणजीका वीरतायुक्त सेवामूलक अनन्य प्रेम भी परम आदर्श है ।

लड़कपनमें साथ खेलने-खानेके उपरान्त पंद्रह वर्षकी उम्रमें हीं श्री लक्ष्मणजी अपने बड़े भाई श्रीरामके साथ विश्वामित्र-

के यज्ञरक्षार्थ चले जाते हैं। वहाँ सब प्रकारसे भाईकी सेवामें नियुक्त रहते हैं। इनकी सेवाके दिग्दर्शनमें जनकपुरका वह दृश्य देखना चाहिये, जहाँ रातके समय विश्वामित्रजीके साथ श्रीराम-लक्ष्मण महाराजा जनकके अतिथिरूपमें डेरेपर ठहरे हैं। गोसाईं-जी उनके वर्तावका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

सभय सप्रेम विनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुर पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥
निसि प्रवेस मुनि आयसु दीन्हा।
सबहीं संध्यावंदनु कीन्हा॥
कहत कथा इतिहास पुरानी।
रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥
मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई।
लगे चरन चापन दोउ भाई॥
जिन्ह के चरन सरोरुह लागी।
करत बिबिध जप जोग बिरागी॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते।
गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥
बार बार मुनि अग्या दीन्ही।
रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥
चापत चरन लखनु उर लाएँ।
सभय सप्रेम परम सचु पाएँ॥

पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता ।
पौढ़े धरि उर पद जलजाता ॥
उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान ।
गुर तें पहिलेहिं जगतपति जागे रामु सुजान ॥

अहा, क्या ही सुन्दर आदर्श दृश्य है ! श्रीराम-लक्ष्मण नगर देखने गये थे, वहाँ नगरवासी नर-नारी और समवयस्क तथा छोटे बालकोंके प्रेममें रम गये, परंतु अबेर होते देख गुरु विश्वामित्रजीका डर लगा। अतएव बालकोंको समझा-बुझाकर वह मिथिला-मोहिनी युगल-जोड़ी डेरेपर लौट आयी। आकर भय, प्रेम और विनय, संकोचके साथ गुरु-चरणोंमें प्रणाम कर दोनों भाई चुपचाप खड़े रहे। जब गुरुजीने आज्ञा दी, तब बैठे; फिर गुरु-की आज्ञासे ठीक समयपर सन्ध्या-वन्दन किया। तदनन्तर कथा-पुराण होते-होते दो पहर रात बीत गयी, तब मुनि विश्वामित्रजी सोये। अब दोनों भाई उनके चरण दबाने लगे। मुनि बार-बार रोकते और सोनेके लिये कहते हैं, पर चरण दबानेके लाभको वे छोड़ना नहीं चाहते, बहुत कहने-सुननेपर श्रीराम भी लेट गये, अब लक्ष्मणजी उनके चरणोंको हृदयपर रखकर भय-प्रेम-सहित चुपचाप दबाने लगे। ऐसे चुपचाप प्रेमसे दबाने लगे कि महाराजको नींद आ जाय। श्रीरामने बार-बार कहा, तब लक्ष्मणजी श्रीरामके चरणकमलोंका हृदयमें ध्यान करते हुए सोये। प्रातःकाल मुर्गेकी ध्वनि सुनते ही सबसे पहले लक्ष्मणजी उठे, उनके बाद श्रीरामजी और तदनन्तर गुरु विश्वामित्रजी। इस

आदर्श रात्रिचर्यासे ही दिनचर्याका भी अनुमान कर लीजिये। आज ऐसा दृश्य सपनेकी-सी बात हो रही है। इससे अनुमान हो सकता है कि श्रीलक्ष्मणजी रामकी किस प्रकार सेवा करते थे।

× × ×

श्रीलक्ष्मणजीकी भ्रातृ-भक्ति अतुलनीय है। वे सब कुछ सह सकते थे, परन्तु श्रीरामका अपमान, तिरस्कार और दुःख उनके लिये असह्य था। अपने लिये—अपने सुखोंके लिये उन्होंने कभी किसीपर क्रोध नहीं किया। अपने जीवनको तो सर्वथा त्यागमय और रामकी कठिन सेवामें ही लगाये रक्खा परन्तु राम-का तनिक-सा तिरस्कार भी उनको तलमला देता और वे भयानक कालनागकी भाँति फुंकार मार उठते। फिर उनके सामने कोई भी क्यों न हो वे किसीकी भी परवा नहीं करते।

जनकपुरके स्वयंवरमें जब शिव-धनुषको तोड़नेमे कोई भी समर्थ नहीं हुआ, तब जनकजीको बड़ा क्लेश हुआ; उन्होंने दुःख-भरे शब्दोंमें कहा—

अब जनि कोउ माखै भट मानी।
वीर विहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू।
लिखा न विधि वैदेहि विबाहू॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई।
तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥

जनकजीकी इस वाणीको सुनकर सीताकी ओर देखकर लोग दुखी हो गये, परन्तु लक्ष्मणजीके मनकी कुछ दूसरी ही अवस्था है। जब जनकके मुँहसे 'अब कोई वीरताका अभिमान न करे' ये शब्द निकले, तभी वे अकुला उठे। उन्होंने सोचा कि श्रीरामकी उपस्थितिमें जनक यह क्या कह रहे हैं, परन्तु रामकी आज्ञा नहीं थी, चुप रहे; लेकिन जब जनकजीने बार-बार धरणीको वीर-विहीन बतलाया, तब लक्ष्मणजीकी भौंहें टेढ़ी और आँखें लाल हो गयीं, उनके होठ काँपने लगे, आखिर उनसे नहीं रहा गया, उन्होंने श्रीरामके चरणोंमें सिर नवाकर कहा—

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई।
तेहिं समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जसि अनुचित बानी।
बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥

जहाँ रघुवंशमणि श्रीरामजी बैठे हों, वहाँ ऐसी अनुचित वाणी कौन कह सकता है? लक्ष्मण कहते हैं कि हे श्रीरामजी! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं स्वभावसे ही इस ब्रह्माण्डको गेंदकी तरह हाथमें उठा लूँ और—

काचे घट जिमि डारौं फोरी।
सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥

फिर आपके प्रतापसे इस बेचारे पुराने धनुषकी तो बात ही कौन-सी है, आज्ञा मिले तो दिखाऊँ खेल—

कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं ।
जोजन सत प्रमान लै धावौं ॥
तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ ।
जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ ॥

लक्ष्मणजीके इन वचनोंसे पृथ्वी काँप उठी, सारा राज-समाज डर गया, सीताजीका सकुचाया हुआ हृदय-कमल खिल उठा, जनकजी सकुचा गये, विश्वामित्रसहित सब मुनिगणों और श्रीरघुवरजीको हर्षके मारे वारंवार रोमाञ्च होने लगा । लक्ष्मण-जीने अपनी सेवा बजा दी, रामका महत्त्व लोगोंपर प्रकट हो गया । वीररसकी जीती-जागती मूर्ति देखकर लोग विमुग्ध हो गये । परंतु इस वीररसके महान् चित्रपटको श्रीरामने एक ही सैनसे पलट दिया—

सयनहिं रघुपति लखनु नेवारे ।
प्रेम समेत निकट बैठारे ॥

तदनन्तर शिवजीका धनुष गुरुकी आज्ञासे श्रीरामने भंग कर दिया । परशुरामजी आये और कुपित होकर धनुष तोड़ने-वालेका नाम-धाम पूछने लगे । श्रीरामने प्रकारान्तरसे धनुष तोड़ना स्वीकार किया ।

नाथ संभुधनु भंजनिहारा ।
होइहि केउ एक दास तुम्हारा ॥

यहाँ परशुराम-लक्ष्मणका संवाद बड़ा ही रोचक है । लक्ष्मणने व्यंग-भावसे श्रीरामकी महिमा सुनायी है और श्रीरामने

भाई लक्ष्मणकी उक्तियोंका प्रकारान्तरसे समर्थन किया । मानो दोनों भाई अंदरसे मिले हुए ऊपरसे दो प्रकारका बर्ताव करते हुए एक दूसरेका पक्ष समर्थन कर रहे हैं । आखिर श्रीरामके मृदु-गूढ़ वचन सुनकर परशुरामजीकी आँखें खुलीं, तब उन्होंने कहा—

राम रमापति कर धनु लेहू ।
खैंचहु मिटै मोर संदेहू ॥

धनुष हाथमें लेते ही आप-से-आप चढ़ गया—

देत चापु आपुहिं चलि गयऊ ।
परसुराम मन बिसमय भयऊ ॥

भगवान्‌का प्रभाव समझ परशुरामजी गद्गद हो गये और उन्होने श्रीराम-लक्ष्मणको प्रणामकर अपना रास्ता लिया ।

चारों भाइयोंका विवाह हुआ । सब अयोध्या लौटे । राज-परिवार सुखके समाजसे पूर्ण हो गया । माताएँ आनन्दमें भर उठीं ।

× × ×

तदनन्तर श्रीभरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये । परंतु लक्ष्मणजी नहीं गये । उन्हें ननिहाल-ससुरालकी, नगर-अरण्यकी कुछ भी परवा नहीं, रामजीका साथ चाहिये । रामके बिना लक्ष्मण नहीं रह सकते । छाया कायासे अलग हो तो लक्ष्मण रामसे अलग हों, लक्ष्मणके प्रेमका ऐसा प्रबल आकर्षण है कि श्रीराम उनके बिना अकेले न तो सो सकते हैं और न उत्तम भोजन ही कर सकते है—

न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः ॥
मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना ।

(वा० रा० १ । १८ । ३०-३१)

रामराज्याभिषेककी तैयारी हुई, लक्ष्मणजीके आनन्दका पार नहीं है । श्रीरामको राजसिंहासनपर देखनेके लिये लक्ष्मण कितने अधिक लालायित थे, इसका पता राजसिंहासनके बदले वनवास-की आज्ञा होनेपर लक्ष्मणजीके भभके हुए क्रोधानलको देखनेसे ही लग जाता है । जो बात मनके जितनी अधिक प्रतिकूल होती है, उसपर उतना ही अधिक क्रोध आता है ।

जब श्रीराम वनवास जाना स्वीकार करके कैकेयी और दशरथकी प्रणाम-प्रदक्षिणा कर माता कौसल्यासे आज्ञा लेनेके लिये महलसे बाहर निकले, तब लक्ष्मणजी भी क्रोधमें भरकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे उनके पीछे-पीछे गये । वे हर हालतमें श्रीरामके साथ हैं ।

दोनों भाई माता कौसल्याके पास पहुँचे । श्रीरामने सारी कथा सुनायी । माताके दुःखका पार नहीं रहा, माताने रामको रोकनेकी चेष्टा की, परंतु श्रीराम न माने । श्रीरामका यह कार्य लक्ष्मणजीको नहीं रुचा, वे श्रीरामके पूर्ण अनुयायी थे, परंतु श्रीरामको अपना हक छोड़ते देखकर उनसे नहीं रहा गया । लक्ष्मणजीके चरित्रमें यह एक विशेषता है, वे जो बात अपने मनमें जँचती है सो बड़े जोरदार शब्दोंमें रामके सामने रखते हैं, उनकी उक्तियोंका खण्डन करते हैं, कभी विह्वल होकर विलाप नहीं करते । पुरुषत्व तो उनमें टपका पड़ता है, परन्तु जब श्रीरामका अन्तिम निर्णय जान

लेते है, तब अपना सारा पक्ष सर्वथा छोड़कर रामका सर्वतोभावसे अनुगमन करने लगते हैं। दशरथजी और कैकेयीके इस आचरणसे दुखी हुई माता कौसल्याको विलाप करते देख भ्रातृ-प्रेमी लक्ष्मण-जी मातासे कहने लगे—

अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः ।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे ॥
दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति ।
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय ॥
हरामि वीर्याद् दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः ।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु ॥

(वा० रा० २ । २१ । १६–१८)

'हे देवि ! मैं सत्य, धनुष, दान-पुण्य और इष्टकी शपथ करके आपसे कहता हूँ कि मैं यथार्थ ही सब प्रकारसे अपने बड़े भाई श्रीरामका अनुयायी हूँ। यदि श्रीराम जलती हुई अग्निमें या घोर वनमें प्रवेश करें तो मुझे पहले ही उनमें प्रवेश हुआ समझो ! हे माता ! जैसे सूर्य उदय होकर सब प्रकारके अन्धकारको हर लेता है, उसी प्रकार मै अपने पराक्रमसे आपके दुःखको दूर करूँगा। आप और श्रीरामचन्द्र मेरा पराक्रम देखे ।' इन वचनोंमें भ्रातृ-प्रेम कितना छलकता है !

इसके अनन्तर वे श्रीरामसे हर तरहकी वीरोचित बातें कहने लगे—'हे आर्य ! आप तुरंत राज्यपर अधिकार कर लें। मैं धनुष-बाण हाथमें लिये आपकी सेवा और रक्षाके लिये सर्वदा

तैयार हूँ। मै जब कालरूप होकर आपकी सहायता करूँगा, तब किसकी शक्ति है जो कुछ भी विघ्न कर सके ? अयोध्याभरमें एक कैकेयीको छोड़कर दूसरा कोई भी आपके विरुद्ध नहीं है, परंतु यदि सारी अयोध्या भी हो जाय तो मैं अयोध्याभरको अपने तीक्ष्ण बाणोंसे मनुष्यहीन कर डालूँगा। भरतके मामा या उनके कोई भी हितैषी मित्र पक्ष लेंगे तो उनका भी वध कर डालूँगा। कैकेयीमें आसक्त पिताजी यदि कैकेयीके उभाड़नेसे हमारे शत्रु होंगे तो उनको कैद कर लूँगा या मार डालूँगा। इसमें मुझे पाप नहीं लगेगा। अन्याय करनेवालोंको शिक्षा देना धर्म है।'

त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम्।
कास्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिशासन॥

(वा० रा० २।२१।१५)

'हे शत्रुसूदन ! आपसे और मुझसे दुस्तर वैर करके पिताजीकी क्या शक्ति है जो भरतको राज्य दे सकें ?'

श्रीरामने लक्ष्मणको सान्त्वना देते हुए कहा—

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम्।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम्॥
धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमप्येतत्पितुर्वचनमुत्तमम्॥
सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम्।
पितुर्हि वचनाद्वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः॥

तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम्॥
(वा० रा० २ । २१ । ३९, ४१, ४३, ४४)

'लक्ष्मण ! मै जानता हूँ, तुम्हारा मुझमें बड़ा प्रेम है और यह भी जानता हूँ कि तुममें अपराजय पराक्रम, तेज और सत्त्व है, परंतु भाई ! इस लोकमें धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है, धर्ममें ही सत्य भरा है। पिताके वचन धर्म और सत्यसे युक्त है। हमें उनका पालन करना चाहिये। हे वीर ! सत्य और धर्मको श्रेष्ठ समझनेवाला मै कैकेयीके द्वारा प्राप्त हुई पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेमें समर्थ नहीं हूँ। तुम भी इस क्षात्रधर्मवाली उग्र वृत्तिको छोड़ दो और इस तीक्ष्णताका त्याग कर विशुद्ध धर्मका आश्रय ले मेरे विचारका अनुसरण करो।'

हे भाई ! तुम क्रोध और दुःखको छोड़कर धैर्य धारण करो, अपमानको भूलकर हर्षित हो जाओ। पिताजी सत्यवादी और सत्यप्रतिज्ञ है, वे सत्यच्युतिके भयसे परलोकसे डर रहे हैं, मेरे द्वारा सत्यका पालन होनेसे वे निर्भय हो जायँगे। मेरा अभिषेक न रोका गया तो पिताजीका सत्य जायगा, जिससे उनको बड़ा दुःख होगा और उनका दुखी होना मेरे लिये भी बड़े ही दुःखकी बात होगी। हे भाई ! मेरे वनवासमें दैव ही प्रधान कारण है, नहीं तो जो कैकेयी माता मुझपर इतना अधिक स्नेह रखती थी, वह मेरे लिये वनवासका वरदान क्यों माँगती ? उसकी बुद्धि दैवने ही बिगाड़ी है। आजतक कौसल्या और कैकेयी आदि

सभी माताओंने मेरे साथ एक-सा वर्ताव किया है। कैकेयी मुझे कभी कटु वचन नहीं कह सकती, यदि वह प्रबल दैवके वशमें न होती। अतएव तुम मेरी बात मानकर दुःखरहित हो अभिषेक-की तैयारीको जल्दी-से-जल्दी हटवा दो।

श्रीरामके वचन सुनकर कुछ देर तो लक्ष्मणने सिर नीचा करके कुछ सोचा; परंतु पुरुषार्थकी मूर्ति लक्ष्मणको रामकी यह दलील नहीं जँची, उनकी भौंहें चढ़ गयीं, सिरमें बल पड गया, वे क्रोधसे भरे साँपकी तरह साँस लेने लगे और पृथ्वीपर हाथ पटककर बोले— 'आप ये भ्रमकी-सी बातें कैसे कह रहे हैं, आप तो महावीर हैं—

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते॥
दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति॥
द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च।
दैवमानुषयोरद्य व्यक्ता व्यक्तिर्भविष्यति॥

(वा० रा० २। २३। १७—१९)

'दैव-दैव तो वही पुकारा करते हैं, जो पौरुषहीन और कायर होते हैं। जिन शूरवीरोंके पराक्रमकी जगत्‌में प्रसिद्धि है, वे कभी ऐसा नहीं करते। जो पुरुष अपने पुरुषार्थसे दैवको दबा सकते हैं, उनके कार्य दैववश असफल होनेपर भी उन्हें दुःख नहीं होता। हे रघुनन्दन! आज दैव और पुरुषार्थके पराक्रमको लोग देखेंगे, इनमें कौन बलवान् है, इस बातका आज पता लग जायगा।'

अतएव हे आर्य—

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां
तवासुहृत्प्राणयशःसुहृज्जनैः ।
यथा तवेयं वसुधा वशा भवे-
त्तथैव मां शाधि तवास्मि किङ्करः ॥
(वा० रा० २ । २३ । ४१)

'मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं आपके किस शत्रुको आज प्राण, यश और मित्रोंसे अलग करूँ (मार डालूँ)। प्रभो! मैं आपका किङ्कर हूँ, ऐसी आज्ञा दें जिससे इस सारी पृथ्वीपर आपका अधिकार हो जाय।' इतना कहकर लक्ष्मणजी राम-प्रेममें रोने लगे। भगवान् श्रीरामने अपने हाथोंसे उनके आँसू पोंछकर उन्हें बार-बार सान्त्वना देते हुए कहा कि—'भाई! तुम निश्चय समझो कि माता-पिताकी आज्ञा मानना ही पुत्रका उत्तमोत्तम धर्म है, इसीलिये मैं पिताकी आज्ञा माननेको तैयार हुआ हूँ। फिर इस राज्यमें रक्खा ही क्या है, यह तो स्वप्नकी दृश्यावलिके सदृश है—

यदिदं दृश्यते सर्वं राज्यं देहादिकं च यत्।
यदि सत्यं भवेत्तत्र आयासः सफलश्च ते ॥
भोगा मेघवितानस्थविद्युल्लेखेव चञ्चलाः।
आयुरप्यग्निसन्तप्तलोहस्थजलबिन्दुवत् ॥
क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारबन्धनम्।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं परित्यज ॥
तस्माच्छान्तिं भजस्वाद्य शत्रुरेवं भवेन्न वै।

देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्ध्यादिभ्यो विलक्षणः ॥
आत्मा शुद्धः स्वयंज्योतिरविकारी निराकृतिः ।
यावद्देहेन्द्रियप्राणैर्भिन्नत्वं नात्मनो विदुः ॥
तावत्संसारदुःखौघैः पीड्यन्ते मृत्युसंयुतैः ।
तस्मात्त्वं सर्वदा भिन्नमात्मानं हृदि भावय ॥
(वा० रा० २ । ४ । १९, २०, ३६, ३८—४०)

'यदि यह सब राज्य और शरीरादि दृश्य पदार्थ सत्य होते तो उसमें तुम्हारा परिश्रम कुछ सफल भी हो सकता, परंतु ये इन्द्रियोंके भोग तो बादलोंके समूहमें बिजलीकी चमकके समान चञ्चल हैं और यह आयु अग्निसे तपे हुए लोहेपर जलकी बूँदके समान क्षणविनाशी है । भाई ! यह क्रोध ही मानसिक संतापकी जड़ है, क्रोधसे ही संसारका बन्धन होता है, क्रोध धर्मका नाश कर डालता है, अतएव इस क्रोधको त्यागकर शान्तिका सेवन करो, फिर संसारमें तुम्हारा कोई शत्रु नहीं है । आत्मा तो देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि सबसे विलक्षण ही है । वह आत्मा शुद्ध, स्वयंप्रकाश, निर्विकार और निराकार है । जबतक यह पुरुष आत्माको देह, इन्द्रिय, प्राण आदिसे अलग नहीं जानता, तबतक उसे संसारके जन्म-मृत्युजनित दुःख-समूहसे पीड़ित होना पड़ता है, अतएव हे लक्ष्मण ! तुम अपने हृदयमें आत्माको सदा-सर्वदा इनसे पृथक् (इनका द्रष्टा) समझो ।'

× × ×

श्रीराम वन जानेको तैयार हो गये, सीताजी भी साथ जाती हैं, अब लक्ष्मणजीका क्रोध तो शान्त है: परंतु वे श्रीरामके

साथ जानेके लिये व्याकुल हैं, दौड़कर श्रीरामके चरणोंमें लोट जाते हैं और रोते हुए कहते हैं—'हे रघुनन्दन! आपने मुझसे कहा था कि तू मेरे विचारका अनुसरण कर, फिर आज आप मुझे छोड़कर क्यों जा रहे हैं—

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना॥

(वा० रा० २। ३१। ५)

'हे भाई! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, मोक्ष या संसारका कोई ऐश्वर्य नहीं चाहता।' कहाँ तो लक्ष्मणकी वह तेजोमयी विकराल मूर्ति और कहाँ यह माताके सामने बच्चेकी-सी फरियाद! यही तो लक्ष्मणजीके भ्रातृ-प्रेमकी विशेषता है। श्रीरामजी भाई लक्ष्मणके इस व्यवहारसे मुग्ध हो गये और उन्हें छातीसे लगाकर बोले—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विधेयश्च सखा च मे॥

(वा० रा० २। २१। १०)

'भाई! तुम मेरे स्नेही हो, धर्मपरायण, धीर, सदा सन्मार्गमें स्थित हो, मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो, मेरे वशवर्ती हो, मेरे आज्ञाकारी हो और मेरे मित्र हो!' इसमे कुछ भी सन्देह नहीं है; परंतु तुम्हें साथ ले चलनेसे यहाँ दुखी पिता और शोकपीडिता माताओंको कौन सान्त्वना देगा?

मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ॥

अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई।
करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥

बड़ी ही शुभ शिक्षा है, परन्तु चातक तो मेघकी स्वातिबूँद-को छोड़कर गङ्गाकी ओर भी नहीं ताकना चाहता; एकनिष्ठ लक्ष्मण एक बार तो सहम गये, प्रेमवश कुछ बोल न सके, फिर अकुलाकर चरणोंमें गिर पड़े और आँसुओंसे चरण धोते हुए बोले—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं।
लागि अगम अपनी कदराईं॥
नरवर धीर धरम धुर धारी।
निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई।
प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी।
दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥

मन क्रम बचन चरन रत होई।
कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

भगवान्‌ने देखा कि अब लक्ष्मण नहीं रहेंगे, तब उन्हें आज्ञा दी, अच्छा—

मागहु बिदा मातु सन जाई।
आवहु बेगि चलहु बन भाई॥

लक्ष्मण डरते-से माता सुमित्राजीके पास गये कि कहीं माता रोक न दें। परन्तु वह भी लक्ष्मणकी ही मा थीं, उन्होंने बड़े प्रेमसे कहा—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥
(वा० रा० २।४०।९)

'जाओ बेटा! सुखसे वनको जाओ, श्रीरामको दशरथ, सीताको माता और वनको अयोध्या समझना।'

अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू।
लेहु तात जग जीवन लाहू॥
पुत्रवती जुवती जग सोई
रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी।
राम बिमुख सुत तें हित जानी॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं।
दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

लक्ष्मणका मनचाहा हो गया, वे दौड़कर श्रीरामके पास पहुँच गये और सीताके साथ दोनों भाई अयोध्यावासियोंको रुलाकर वनकी ओर चल दिये।

× × ×

एक दिनकी बात है, वनमें चलते-चलते सन्ध्या हो गयी। कभी पैदल चलनेका किसीको अभ्यास नहीं था। तीनों जने थके हुए थे, वनमें चारों ओर काले साँप घूम रहे थे। लक्ष्मणने जगह साफकर एक पेड़के नीचे कोमल पत्ते बिछा दिये। श्रीराम-सीता उसपर बैठ गये। लक्ष्मणजीने भोजनका सामान जुटाया। श्रीराम इस कष्टको देखकर स्नेहवश लक्ष्मणसे बार-बार कहने लगे कि 'भाई! तुम अयोध्या लौट जाओ, वहाँ जाकर माताओंको सान्त्वना दो। यहाँके कष्ट मुझको और सीताको ही भोगने दो।' इसके उत्तरमें लक्ष्मणने बड़े ही मार्मिक शब्द कहे—

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥
न हि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परन्तप।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना॥
(वा० रा० २। ५३। ३१-३२)

'हे रघुनन्दन! सीताजी और मैं आपसे अलग रहकर उसी तरह घड़ीभर भी नहीं जी सकते, जैसे जलसे निकालनेपर मछलियाँ नहीं जी सकतीं। हे शत्रुनाशन! आपको छोड़कर मैं माता, पिता, भाई शत्रुघ्न और स्वर्गको भी नहीं देखना चाहता।' धन्य भ्रातृ-प्रेम!

जिस समय निषादराज गुहके यहाँ श्रीराम-सीता रातके समय लक्ष्मणजीके द्वारा तैयार की हुई घास-पत्तोंकी शय्यापर सोते

हैं उस समय श्रीलक्ष्मण कुछ दूरपर खड़े पहरा दे रहे हैं, गुह आकर कहता है 'आपको जागनेका अभ्यास नहीं है, आप सो जाइये। मैंने पहरेका सारा प्रबन्ध कर दिया है।' इस बातको सुनकर श्रीलक्ष्मणजी कहने लगे—

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितानि सुखानि वा॥

(वा० रा० २। ८६। १०)

'दशरथनन्दन श्रीराम सीताके साथ जमीनपर सो रहे हैं, फिर मुझे कैसे तो नींद आ सकती है और कैसे जीवन तथा सुख अच्छा लग सकता है?'

वनमें श्रीलक्ष्मणजी हर तरहसे श्रीराम-सीताकी सेवा करते हैं। चित्रकूटमें काठ और पत्ते इकट्ठे करके लक्ष्मणने ही कुदारसे मिट्टी खोदकर सुन्दर कुटिया बनायी थी। फल-मूल लाना, हवनकी सामग्री इकट्ठी करनी, सीताके गहने-कपड़ोंकी बाँसकी पेटी तथा शस्त्रास्त्रोंको उठाकर चलना, जाड़ेकी रातमें दूरसे खेतोंमेंसे होकर पानी भरकर लाना, रास्ता पहचाननेके लिये पेड़ो-पत्थरोंपर पुराने कपड़े लपेट रखना, झाड़ू देना, चौका देना, बैठनेके लिये वेदी बनाना, जलानेके लिये काठ-ईंधन इकट्ठा करना और रातभर जागकर पहरा देते रहना—ये सारे काम लक्ष्मणजीके जिम्मे हैं और बड़े हर्षके साथ वे सब कार्य सुचारुरूपसे करते हैं।

सेवहिं लखनु करम मन बानी।
जाइ न सीलु सनेहु बखानी॥

सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि।
जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहि॥

× × ×

आज्ञाकारितामें तो लक्ष्मणजी बड़े ही आदर्श हैं। कितनी भी विपरीत आज्ञा क्यों न हो, वे बिना 'किंतु परंतु' किये चुपचाप उसे सिर चढ़ा लेते हैं, आज्ञा-पालनके कुछ दृष्टान्त देखिये—

१—वनवासके समय आपने आज्ञा मानकर लड़नेकी सारी इच्छा एकदम छोड़ दी।

२—भरतके चित्रकूट आनेके समय बड़ा गुस्सा आया, परंतु श्रीरामकी आज्ञा होते ही तथ्य समझकर शान्त हो गये।

३—खर-दूषणसे युद्ध करनेके समय श्रीरामने आज्ञा दी कि 'मैं इनके साथ युद्ध करता हूँ, तुम सीताजीको साथ ले जाकर पर्वत-गुफामें जा बैठो।' लक्ष्मण-सरीखे तेजस्वी वीरके लिये लड़ाईके मैदानसे हटनेकी यह आज्ञा बहुत ही कड़ी थी, परंतु उन्होंने चुपचाप उसे स्वीकार कर लिया।

४—श्रीसीताजी अशोकवाटिकासे पालकीमें आ रही थीं। श्रीरामने पैदल लानेकी विभीषणको आज्ञा दी, इससे लक्ष्मणजीको एक बार दुःख हुआ, परंतु कुछ भी नहीं बोले।

५—श्रीरामके द्वारा तिरस्कार पायी हुई सीताने जब चिता जलानेके लिये लक्ष्मणजीको आज्ञा दी, तब श्रीरामका इशारा पाकर मर्म-वेदनाके साथ इन्होंने चिता तैयार कर दी।

६—सीता वनवासके समय श्रीरामकी आज्ञासे पत्थरका-सा कलेजा बनाकर अन्तरके दुःखसे दग्ध होते हुए भी सीताजीको वनमें छोड़ आये।

इनके जीवनमें राम-आज्ञा-भंगके केवल दो प्रसंग आते हैं, जिनमें प्रथम तो, सीताको अकेले पर्णकुटीमें छोड़कर मायामृगको पकड़नेके लिये गये हुए श्रीरामके पास जाना और दूसरा मुनि दुर्वासाके शापसे राज्यको बचानेके लिये अपने त्यागे जानेका महान् कष्ट स्वीकार करते हुए भी दुर्वासाको श्रीरामके पास जाने देना; परंतु ये दोनों ही अवसर अपवादस्वरूप हैं।

सीताजीके कटुवचन कहनेपर लक्ष्मणने उन्हें समझाया कि 'माता ! ये शब्द मायावी मारीचके हैं। श्रीरामको त्रिभुवनमें कोई नहीं जीत सकता, आप धैर्य रक्खें। मैं रामकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर आपको अकेली छोड़कर नहीं जा सकता।' इतनेपर भी जब उन्होंने तमककर कहा कि 'मैं समझती हूँ, तू भरतका दूत है, तेरे मनमें काम-विकार है, तू मुझे प्राप्त करना चाहता है, मैं आगमें जल मरूँगी; परन्तु तेरे और भरतके हाथ नहीं आ सकती।' इन वचन-बाणोंसे पवित्र-हृदय जितेन्द्रिय लक्ष्मणका हृदय बिंध गया, उन्होंने कहा, 'हे माता वैदेही ! आप मेरे लिये देवस्वरूप हैं, इससे मैं आपको कुछ भी कह नहीं सकता; परन्तु मैं आपके शब्दोंको सहन करनेमें असमर्थ हूँ। हे वनदेवताओ ! आप सब साक्षी हैं, मै अपने बड़े भाई रामकी आज्ञामें रहता हूँ, तिसपर भी माता सीता स्त्रीस्वभावसे मुझपर सन्देह करती हैं। मै समझता हूँ कि कोई भारी संकट आनेवाला है। माता ! आपका कल्याण हो, वनदेवता आपकी रक्षा करे। मैं जाता हूँ।' इस अवस्थामें लक्ष्मणका वहाँसे जाना दोषावह नहीं माना जा सकता।

दूसरे प्रसङ्गमें तो लक्ष्मणने कुटुम्बसहित भाईको और भाईके साम्राज्यको शापसे बचानेके लिये ही आज्ञाका त्याग किया था।

कुछ लोग कहते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी रामसे ही प्रेम करते थे, भरतके प्रति तो उनका विद्वेष बना ही रहा, परंतु यह बात ठीक नहीं। रामकी अवज्ञा करनेवालेको अवश्य ही वे क्षमा नहीं कर सकते थे, परंतु जब उन्हें मालूम हो गया कि भरत दोषी नहीं हैं, तब लक्ष्मणके अन्तःकरणमें अपनी कृतिपर बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ और वे भरतपर पूर्ववत् श्रद्धा तथा स्नेह करने लगे। एक समय जाड़ेकी ऋतुमें वनके अंदर शीतकी भयानकताको देखकर लक्ष्मणजी नन्दिग्रामनिवासी भरतकी चिन्ता करते हुए कहते हैं कि—

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र काले दुःखसमन्वितः।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे॥
त्यक्त्वा राज्यं च मानं च भोगांश्च विविधान् बहून्।
तपस्वी नियताहारः शेते शीते महीतले॥
सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम्॥
अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः।
कथं त्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते॥
पद्मपत्रेक्षणः श्यामः श्रीमान्निरुदरो महान्।
धर्मज्ञः सत्यवादी च ह्रीनिषेधो जितेन्द्रियः॥
प्रियाभिभाषी मधुरो दीर्घबाहुररिन्दमः।
सन्त्यज्य विविधान् सौख्यानार्यं सर्वात्मनाश्रितः॥
जितः स्वर्गस्तव भ्रात्रा भरतेन महात्मना।
वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते॥

(वा० रा० ३। १६। २७—३३)

'हे पुरुषश्रेष्ठ ! ऐसे अत्यन्त शीतकालमें धर्मात्मा भरत आपके प्रेमके कारण कष्ट सहकर अयोध्यामें तप कर रहे होंगे । अहो ! नियमित आहार करनेवाले तपस्वी भरत राज्य, सम्मान और विविध प्रकारके भोग-विलासोंको त्यागकर इस शीतकालमें ठंढी जमीनपर सोते होंगे । अहो ! भरत भी इसी समय उठकर अपने साथियोंको लेकर सरयूमें नहाने जाते होंगे । अत्यन्त सुखमें पले हुए सुकुमार शरीरवाले शीतसे पीड़ित हुए भरत इतने तड़के सरयूके अत्यन्त शीतल जलमें कैसे स्नान करते होंगे ! कमलनयन श्यामसुन्दर भाई भरत सदा नीरोग, धर्मज्ञ, सत्यवादी, लज्जाशील, जितेन्द्रिय, प्रिय और मधुरभाषी और लंबी भुजाओंवाले शत्रु-नाशन महात्मा है । अहा ! भरतने सब प्रकारके सुखोंका त्याग कर सब प्रकारसे आपका ही आश्रय ले लिया है । हे आर्य ! महात्मा भाई भरतने स्वर्गको भी जीत लिया, क्योंकि आप वनमे हैं, इसलिये वे भी आपकी ही भाँति तपस्वी-धर्मका पालन कर आपका अनुसरण कर रहे हैं ।'

इन वचनोंको पढ़नेपर भी क्या यह कहा जा सकता है कि लक्ष्मणका भरतके प्रति प्रेम नहीं था ! इनमें तो उनका प्रेम टपका पड़ता है ।

× × ×

लक्ष्मणजी अपनी बुद्धिका भी कुछ घमण्ड न रखकर श्रीराम-सेवामें किस प्रकार अर्पित-प्राण थे, इस बातका पता तब लगता है, जब पञ्चवटीमें भगवान् श्रीराम अच्छा-सा स्थान खोजकर पर्णकुटी तैयार करनेके लिये लक्ष्मणको आज्ञा देते हैं । तब सेवा-

परायण लक्ष्मण हाथ जोड़कर भगवान्‌से कहते हैं कि हे प्रभो ! मैं अपनी स्वतन्त्रतासे कुछ नहीं कर सकता ।

परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते ।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद ॥

(वा० रा० ३ । १५ । ७)

'हे काकुत्स्थ ! चाहे सैकड़ों वर्ष बीत जायँ, पर मैं तो आपके ही अधीन हूँ । आप ही पसंद करके उत्तम स्थान बतावें ।'

इसका यह मतलब नहीं कि लक्ष्मणजी विवेकहीन थे । वे बड़े बुद्धिमान् और विद्वान् थे एवं समय-समयपर रामकी सेवाके लिये बुद्धिका प्रयोग भी करते थे; किंतु जहाँ रामके किये काम-पर ही पूरा संतोष होता, वहाँ वे कुछ भी नहीं बोलते थे । उनमें तेज और क्रोधके भाव थे । पर वे थे सब रामके लिये ही । लक्ष्मण विलाप करना, विह्वल होना, डिगना और रामविरोधीपर क्षमा करना नहीं जानते थे । इसीसे अन्य दृष्टिसे देखनेवाले लोग उनके चरित्रमें दोषोंकी कल्पना किया करते हैं, परंतु लक्ष्मण सर्वथा निर्दोष, रामप्रिय, रामरहस्यके ज्ञाता और आदर्श भ्राता हैं । इनके ज्ञानका नमूना देखना हो तो गुहके साथ इन्होंने एकान्तमें जो बातें की थीं, उन्हें पढ़ देखिये । जब निषादने विषादवश कैकेयीको बुरा-भला कहा और श्रीसीतारामजीके भूमि-शयनको देखकर दुःख प्रकट किया, तब लक्ष्मणजी नम्रताके साथ मधुरवाणीद्वारा उससे कहने लगे—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
जोग बियोग भोग भल मंदा।
हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू।
संपति बिपति करमु अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू।
सरगु नरकु जहँ लगि व्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं।
मोह मूल परमारथु नाहीं॥
सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥
अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू।
काहुहि बादि न देइअ दोसू॥
मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच बियोगी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा।
जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥

सखा परम परमारथु एहू ।
मन क्रम बचन राम पद नेहू ॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा ।
अबिगत अलख अनादि अनूपा ॥
सकल बिकार रहित गतभेदा ।
कहि नित नेति निरूपहिं बेदा ॥
भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल ।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल ॥
सखा समुझि अस परिहरि मोहू ।
सिय रघुबीर चरन रत होहू ॥

श्रीलक्ष्मणजीकी महिमा कौन गा सकता है ? इनके समान परमार्थ और प्रेमका, बुद्धिमत्ता और सरलताका, परामर्श और आज्ञाकारिताका, तेज और मैत्रीका विलक्षण समन्वय इन्हींके चरित्रमें है । सारा संसार श्रीरामका गुणगान करता है, श्रीराम भरतका गुण गाते हैं और भरत लक्ष्मणके भाग्यकी सराहना करते हैं । फिर हम किस गिनतीमें हैं, जो लक्ष्मणजीके गुणोंका संक्षेपमें बखान कर सकें !

श्रीशत्रुघ्नका भ्रातृ-प्रेम

रिपुसूदन पद कमल नमामी । सूर सुसील भरत अनुगामी ॥

रामदासानुदास श्रीशत्रुघ्नजी भगवान् श्रीराम और भरत-लक्ष्मणके परम प्रिय और आज्ञाकारी बन्धु थे । शत्रुघ्नजी मौनकर्मी, प्रेमी, सदाचारी, मितभाषी, सत्यवादी, विषय-विरागी, सरल,

तेजपूर्ण, गुरुजनोंके अनुगामी, वीर और शत्रुतापन थे । श्रीरामायणमें उनके सम्बन्धमें विशेष विवरण नहीं मिलता, परंतु जो कुछ मिलता है, उसीसे इनकी महत्ताका अनुमान हो जाता है । जैसे श्रीलक्ष्मणजी भगवान् श्रीरामके चिर-संगी थे, इसी प्रकार लक्ष्मणानुज शत्रुघ्नजी श्रीभरतजीकी सेवामें नियुक्त रहते थे । भरतजीके साथ ही आप उनके ननिहाल गये थे और पिताकी मृत्युपर साथ ही लौटे थे । अयोध्या पहुँचनेपर कैकेयीके द्वारा पिता-मरण और राम-सीता-लक्ष्मणके वनवासका समाचार सुनकर इनको भी बड़ा भारी दुःख हुआ । भाई लक्ष्मणके शौर्यसे आप परिचित थे, अतएव इन्होंने शोकपूर्ण हृदयसे बड़े आश्चर्यके साथ भरतजीसे कहा—

> गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः ।
> स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम् ॥
> बलवान् वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ ।
> किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम् ॥
>
> (वा० रा० २ । ७८ । २-३)

'श्रीराम, जो दुःखके समय सब भूतप्राणियोंके आश्रय है, फिर हमलोगोंके आश्रय हैं इसमें तो कहना ही क्या, ऐसे महाबलवान् राम एक स्त्री (कैकेयी) की प्रेरणासे ही वनमें चले गये । अहो ! श्रीलक्ष्मण तो बलवान् और महापराक्रमी थे, उन्होंने पिताको समझाकर रामको वन जानेसे क्यों नहीं रोका ?' इस समय शत्रुघ्नजी दुःख और कोपसे भरे थे, इतनेमें रामविरहसे दुखी एक द्वारपालने आकर कहा कि 'हे राजकुमार ! जिसके षड्यन्त्रसे

श्रीरामको वन जाना पड़ा और महाराजकी मृत्यु हुई, वह क्रूरा पापिनी कुब्जा वस्त्राभूषणोंसे सजी हुई खड़ी है, आप उचित समझें तो उसे कुछ शिक्षा दें।' कुब्जा भरतजीसे इनाम लेने आ रही थी और उसे दरवाजेपर देखते ही द्वारपालने अंदर आकर शत्रुघ्नसे ऐसा कह दिया था। शत्रुघ्नको बड़ा गुस्सा आया, उन्होंने कुब्जाकी चोटी पकड़कर उसे घसीटा, उसने जोरसे चीख मारी। यह दशा देखकर कुब्जाकी अन्य सखियाँ तो दौड़कर श्रीकौसल्या-जीके पास चली गयीं, उन्होंने कहा कि अब मधुरभाषिणी दयामयी कौसल्याकी शरण गये बिना शत्रुघ्न हमलोगोंको भी नहीं छोड़ेंगे। कैकेयी छुड़ाने आयीं तो उनको भी फटकार दिया। आखिर भरतने आकर शत्रुघ्नसे कहा—'भाई! स्त्री-जाति अवध्य है, नहीं तो मैं ही कैकेयीको मार डालता।'

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम्॥

(वा० रा० २।७८।२३)

'भाई! यह कुब्जा भी यदि तुम्हारे हाथसे मारी जायगी तो धर्मात्मा श्रीराम इस बातको जानकर निश्चय ही तुमसे और मुझसे बोलना छोड़ देंगे।' भरतजीके वचन सुनकर शत्रुघ्नजीने उसको छोड़ दिया। यहाँ यह पता लगता है कि प्रथम तो रामकी धर्मनीतिमें स्त्री-जातिका कितना आदर था, स्त्री अवध्य समझी जाती थी। दूसरे शोकाकुल भरतने इस अवस्थामें भी भाई शत्रुघ्नको भ्रातृ-प्रेमके कारण रामकी राजनीति बतलाकर अधर्मसे

रोका और तीसरे, रोषमें भरे हुए शत्रुघ्नने भी तुरंत भाईकी बात मान ली। इससे हमलोगोंको यथायोग्य शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। जो लोग यह आक्षेप किया करते हैं कि प्राचीन कालमें भारतीय पुरुष स्त्रियोंको बहुत तुच्छ बुद्धिसे देखते थे, उनको इस प्रसङ्गसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।'

× × ×

इसके अनन्तर शत्रुघ्नजी भी भरतजीके साथ श्रीरामको लौटाने वनमें जाते हैं और वहाँ भरतजीकी आज्ञासे रामकी कुटिया ढूँढ़ते हैं। जब भरतजी दूरसे श्रीरामको देखकर दौड़ते हैं तब श्रीरामदर्शनोत्सुक शत्रुघ्न भी पीछे-पीछे दौड़े जाते हैं और—

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन्।
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत्॥

(वा० रा० २। ९९। ४०)

'वे भी रोते हुए श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करते हैं, श्रीराम भी दोनों भाइयोंको छातीसे लगाकर रोने लगते हैं।' इसी प्रकार शत्रुघ्न अपने बड़े भाई लक्ष्मणजीसे भी मिलते हैं—

भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई।

इसके बाद श्रीराम-भरतके संवादमें लक्ष्मण-शत्रुघ्नका बीचमें बोलनेका कोई काम नहीं था। दोनोंके अपने-अपने नेता बड़े भाई मौजूद थे। शत्रुघ्नने तो भरतको अपना जीवन सौंप ही दिया था। इसीसे भरत कह रहे थे कि—

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ ॥

शत्रुघ्नजीकी सम्मति न होती या शत्रुघ्नके भ्रातृ-प्रेमपर भरोसा न होता तो भरतजी ऐसा क्यों कर कह सकते ?

पादुका लेकर लौटनेके समय श्रीरामसे दोनों भाई पुनः गले लगकर मिलते हैं। रामकी प्रदक्षिणा करते हैं। लक्ष्मणजीकी भाँति शत्रुघ्नजी भी कुछ तेज थे, कैकेयीके प्रति उनके मनमें रोष था, श्रीराम इस बातको समझते थे इससे वनसे विदा होते समय श्रीरामने शत्रुघ्नजीको वात्सल्यताके कारण शिक्षा देते हुए कहा—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति ॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन ।
(वा० रा० २ । ११२ । २७-२८)

'हे भाई ! तुम्हें मेरी और सीताकी शपथ है, तुम माता कैकेयीके प्रति कुछ भी क्रोध न करके उनकी रक्षा करते रहना ।' इतना कहनेपर उनकी आँखें प्रेमाश्रुओंसे भर गयीं । इससे पता लगता है कि श्रीराम-शत्रुघ्नमें परस्पर कितना प्रेम था ।

इसके बाद शत्रुघ्नजी भरतजीके साथ अयोध्या लौटकर उनके आज्ञानुसार राज और परिवारकी सेवामें रहते हैं तथा श्रीरामके अयोध्या लौट आनेपर प्रेमपूर्वक उनसे मिलते हैं—

पुनि प्रभु हरषि सत्रुहन भेंटे हृदयँ लगाइ ॥

तदनन्तर उनकी सेवामें लग जाते हैं । श्रीरामका राज्याभिषेक होता है और रामराज्यमें सबका जीवन सुख और धर्ममय बीतता है ।

एक समय ऋषियोंने आकर श्रीरामसे कहा कि लवणासुर नामक राक्षस बड़ा उपद्रव कर रहा है, वह प्राणिमात्रको—खास करके तपस्वियोंको पकड़कर खा जाता है । हम सब बड़े ही दुखी हैं । श्रीरामने उनसे कहा कि 'आप भय न करें, मैं उस राक्षसको मारनेका प्रबन्ध करता हूँ ।' तदनन्तर श्रीरामने अपने भाइयोंसे पूछा कि 'लवणासुरको मारने कौन जाता है ?' भरतजीने कहा, 'महाराज ! आपकी आज्ञा होगी तो मैं चला जाऊँगा ।' इसपर लक्ष्मणानुज शत्रुघ्नजीने नम्रतासे कहा—'हे रघुनाथजी ! आप जब वनमें थे, तब महात्मा भरतजीने बड़े-बड़े दुःख सहकर राज्यका पालन किया था । ये नगरसे बाहर नन्दिग्राममें रहते थे, कुशपर सोते थे, फल-मूल खाते थे और जटा-वल्कल धारण करते थे । अब मैं दास जब सेवामें उपस्थित हूँ, तब इन्हें न भेजकर मुझे ही भेजना चाहिये ।' भगवान् श्रीरामने कहा—'अच्छी बात है, तुम्हारी इच्छा है तो ऐसा ही करो, मैं तुम्हारा मधुदैत्यके सुन्दर नगरका राज्याभिषेक करूँगा, तुम शूरवीर हो, नगर बसा सकते हो, मधु राक्षसके पुत्र लवणासुरको मारकर धर्म-बुद्धिसे वहाँका राज्य करो । मैंने जो कुछ कहा है, इसके बदलेमें कुछ भी न कहना; क्योंकि बड़ोंकी आज्ञा बालकोंको माननी चाहिये । गुरु वशिष्ठ तुम्हारा विधिवत् अभिषेक करेंगे, अतएव मेरी आज्ञासे तुम उसे स्वीकार करो ।' श्रीरामने अपने मुँहसे बड़ोंकी आज्ञाका महत्त्व इसीलिये बतलाया कि वे शत्रुघ्नकी त्यागवृत्तिको जानते थे । श्रीराम ऐसा न कहते तो वे सहजमें राज्य स्वीकार न करते । इस बातका पता उनके उत्तरसे लगता है । शत्रुघ्नजी बोले—

'हे नरेश्वर ! बड़े भाईकी उपस्थितिमें छोटेका राज्याभिषेक होना मैं अधर्म समझता हूँ। इधर आपकी आज्ञाका पालन भी अवश्य करना चाहिये। आपके द्वारा ही मैंने यह धर्म सुना है। श्रीभरतजीके बीचमें मुझको कुछ भी नहीं बोलना चाहिये था—

व्याहृतं दुर्वचो घोरं हन्तासि लवणं मृधे।
तस्यैवं मे दुरुक्तस्य दुर्गतिः पुरुषर्षभ ॥
उत्तरं न हि वक्तव्यं ज्येष्ठेनाभिहिते पुनः।
अधर्मसहितं चैव परलोकविवर्जितम् ॥

(वा० रा० ७।६३।५-६)

'हे पुरुश्रेष्ठ ! 'दुष्ट लवणासुरको मैं रणमें मारूँगा' मैंने ये दुर्वचन कहे, इस अनधिकार बोलनेके कारण ही मेरी यह दुर्गति हुई। बड़ोंकी आज्ञा होनेपर तो प्रत्युत्तर भी नहीं करना चाहिये। ऐसा करना अधर्मयुक्त और परलोकका नाश करनेवाला है।' धन्य शत्रुघ्नजी ! आप राज्य-प्राप्तिको 'दुर्गति' समझते हैं ! कैसा आदर्श त्याग है। आप फिर कहते हैं कि 'हे काकुत्स्थ ! एक दण्ड तो मुझे मिल गया, अब आपके वचनोंपर कुछ बोलूँ तो कहीं दूसरा दण्ड न मिल जाय, अतएव मैं कुछ भी नहीं कहता। आपके इच्छानुसार करनेको तैयार हूँ।'

भगवान्‌की आज्ञासे शत्रुघ्नका राज्याभिषेक हो गया, तदनन्तर उन्होंने लवणासुरपर चढ़ाई की, श्रीरामने चार हजार घोड़े, दो हजार रथ, एक सौ उत्तम हाथी, क्रय-विक्रय करनेवाले व्यापारी, खर्चेके लिये एक लाख स्वर्णमुद्राएँ साथ दीं और भाँति-भाँतिके

सदुपदेश देकर शत्रुघ्नको विदा किया। इससे पता लगता है कि शत्रुघ्नजी श्रीरामके कितने प्यारे थे।

रास्तेमें ऋषियोंके आश्रमोंमें ठहरते हुए वे जाने लगे। वाल्मीकिजीके आश्रममें भी एक रात ठहरे, उसी रातको सीताजीके लव-कुशका जन्म हुआ था। अतः वह रात शत्रुघ्नजीके लिये बड़े आनन्दकी रही। शत्रुघ्नजीने मधुपुर जाकर लवणासुरका वध किया। देवता और ऋषियोंने आशीर्वाद दिये। तदनन्तर बारह सालतक मधुपुरीमें रहकर शत्रुघ्नजी वापस श्रीरामदर्शनार्थ लौटे। रास्तेमें फिर वाल्मीकिजीके आश्रममें ठहरे। अब लव-कुश बारह वर्षके हो गये थे। मुनिने उनको रामायणका गान सिखला दिया था, अतएव मुनिकी आज्ञासे लव-कुशने शत्रुघ्नजीको रामायणका मनोहर और करुणोत्पादक गान सुनाया। राम-महिमाका गान सुनकर शत्रुघ्न मुग्ध हो गये—

श्रुत्वा पुरुषशार्दूलो विसंज्ञो बाष्पलोचनः।
स मुहूर्तमिवासंज्ञो विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः॥
(वा० रा० ७। ७१। १७)

'उस गानको सुनकर पुरुषसिंह शत्रुघ्नकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली और वे बेहोश हो गये। उस बेहोशीमें दो घड़ीतक उनके जोर-जोरसे साँस चलते रहे।' धन्य है!

इसके अनन्तर उन्होंने अयोध्या पहुँचकर श्रीरामसहित सब भाइयोंके दर्शन किये। फिर कुछ दिनों बाद मधुपुरी लौट गये।

× × ×

परमधामके प्रयाणका समय आया, इन्द्रियविजयी शत्रुघ्नको पता लगते ही वह अपने पुत्रोंको राज्य सौंपकर दौड़े हुए श्रीरामके पास आये और चरणोंमें प्रणामकर गद्गदकण्ठसे कहने लगे—

कृत्वाभिषेकं सुतयोर्द्वयो राघवनन्दन।
तवानुगमने राजन् विद्धि मां कृतनिश्चयम्॥
न चान्यदद्य वक्तव्यमतो वीर न शासनम्।
विहन्यमानमिच्छामि मद्विधेन विशेषतः॥
(वा० रा० ७। १०८। १४-१५)

'हे रघुनन्दन! हे राजन्! आप ऐसे समझें कि मैं अपने दोनों पुत्रोंको राज्य सौंपकर आपके साथ जानेका निश्चय करके आया हूँ। हे वीर! आज आप कृपा कर न तो दूसरी बात कहें और न दूसरी आज्ञा ही दें, यह मैं इसलिये कह रहा हूँ कि खास तौरपर मुझ-जैसे पुरुषद्वारा आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन होना नहीं चाहिये। मतलब यह कि आप कहीं साथ छोड़कर यहाँ रहनेकी आज्ञा न दे दें, जिससे मुझे आपकी आज्ञा भंग करनी पड़े, जो मैंने आजतक नहीं की।' धन्य भ्रातृ-प्रेम!

भगवान्‌ने प्रार्थना स्वीकार की और सबने मिलकर श्रीरामके साथ रामधामको प्रयाण किया।

उपसंहार

यह रामायणके चारों पूज्य पुरुषोंके आदर्श भ्रातृ-प्रेमका किञ्चित् दिग्दर्शन है। यह लेख विशेषरूपसे भ्रातृ-प्रेमपर ही लिखा गया है। अन्य वर्णन तो प्रसङ्गवश आ गये हैं, अतएव दूसरे उपदेश-

प्रद आदर्श विषयोंकी यथोचित चर्चा नहीं हो सकी है। इस लेखमें अधिकांश भाग वाल्मीकि, अध्यात्म और रामचरितमानसके आधारपर लिखा गया है।

वास्तवमें श्रीराम और उनके बन्धुओंके अगाध चरितकी थाह कौन पा सकता है? मैंने तो अपने विनोदके लिये यह चेष्टा की है, त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करें। श्रीराम और उनके प्रिय बन्धुओंके विमल और आदर्श चरितसे हमलोगोंको पूरा लाभ उठाना चाहिये। साक्षात् सच्चिदानन्दघन भगवान् होनेपर भी उन्होंने जीवनमें मनुष्योंकी भाँति लीलाएँ की हैं, जिनको आदर्श मानकर हम काममें ला सकते हैं।

कुछ लोग कहा करते हैं कि 'श्रीराम जब साक्षात् भगवान् थे, तब उन्हें अवतार धारण करनेकी क्या आवश्यकता थी, वे अपनी शक्तिसे यों ही सब कुछ कर सकते थे।' इसमें कोई संदेह नहीं कि भगवान् सभी कुछ कर सकते है, करते हैं। उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, परंतु उन्होंने अवतार धारण कर ये आदर्श लीलाएँ इसीलिये की है कि हमलोग उनका गुणानुवाद गाकर और अनुकरण कर कृतार्थ हों। यदि वे अवतार धारण कर हमलोगोंकी शिक्षाके लिये ये लीलाएँ न करते तो हमलोगोंको आदर्श शिक्षा कहाँसे और कैसे मिलती? अब हमलोगोंका यही कर्तव्य है कि उनकी लीलाओंका श्रवण, मनन और अनुकरण-कर उनके सच्चे भक्त बनें। लेख बहुत बड़ा हो गया है इसलिये यहीं समाप्त किया जाता है।